UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182821
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 809 Accession No H 2248

Author P25m

Title परमार श्याम
मालती और उसका
स्वाभिमान

This book should be returned on or before the date last marked below.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No H 809 P25M   Acc. No H 2248

परमार श्याम

मालवी और उसका

साहित्य

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

ll No. H891 Accession No H 2245

thor P25M

le परमार इतिहास

मालवा और उसका

इतिहास

This book should be returned on or before the date
st marked below

मालवी और उसका साहित्य

: मालवी-भाषा और साहित्य का परिचयात्मक विश्लेषण :

लेखक

श्री श्याम परमार

सम्पादक : क्षेमचन्द्र 'सुमन'

सरस्वती सहकार, दिल्ली ६

की ओर से प्रकाशक

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

प्रथम संस्करण

मूल्य : दो रुपये

क्षेमचन्द्र 'सुमन' संचालक सरस्वती सहकार ३६७१ हाथीखाना पहाड़ी धीरज, दिल्ली ६ के लिए राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई द्वारा प्रकाशित और गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस दिल्ली में मुद्रित।

निवेदन

स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक विकास में भारत की भाषाओं तथा उपभाषाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज यह अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे देश का अधिकांश पठित जन-समुदाय अपनी प्रादेशिक और समृद्ध जनपदीय भाषाओं के साहित्य से सर्वथा अपरिचित है। कुछ दिन पूर्व हमने 'सरस्वती सहकार' संस्था की स्थापना करके उसके द्वारा 'भारतीय साहित्य-परिचय' नामक एक पुस्तक-माला के प्रकाशन की योजना बनाई और इसके अन्तर्गत भारत की लगभग २७ भाषाओं और समृद्ध उपभाषाओं के साहित्यिक विकास की रूप-रेखा का परिचय देने वाली पुस्तकें प्रकाशित करने का पुनीत संकल्प किया। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य हिन्दी-भाषी जनता को सभी भाषाओं की साहित्यिक गति-विधि से अवगत कराना है।

हर्ष का विषय है कि हमारी इस योजना का समस्त हिन्दी-जगत् ने उत्फुल्ल हृदय से स्वागत किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस पुस्तक-माला का एक मनका है। आशा है हिन्दी-जगत् हमारे इस प्रयास का हार्दिक स्वागत करेगा। इस प्रसंग में हम पुस्तक के लेखक श्री श्याम परमार के हार्दिक आभारी हैं, जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से कुछ अमूल्य क्षण निकालकर हमारे इस पावन यज्ञ में सहयोग दिया है। राजकमल प्रकाशन के सञ्चालकों को भूल जाना भी भारी कृतघ्नता होगी, जिनके सक्रिय सहयोग से हमारा यह स्वप्न साकार हो सका है।

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

३६७१ हाथीखाना
पहाड़ी धीरज, दिल्ली—६

प्रस्तावना

'मालवी और उसका साहित्य' अपने विषय की प्रथम पुस्तक है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की प्रेरणा से जीवन में अध्ययन की जो दिशा निर्धारित हो चुकी है उसीके फलस्वरूप प्रस्तुत सामग्री पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो रही है।

यही सब-कुछ अन्तिम नहीं है; नवीन मान्यताओं और परिवर्तनों के लिए काफी स्थान है। वस्तुतः यह तो विषय का आरम्भ है। मनन के क्षेत्र में उसका झुकाव सही-सही उद्देश्य की ओर होगा, इसी विश्वास के साथ मैंने इसे लिख डालने का द्रुत प्रयास किया है।

वर्षों से मालव-इतिहास का अनुसंधान करने वाले विद्वद्वर पं० सूर्यनारायण व्यास और महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह ने पुस्तक की सामग्री को आद्योपान्त पढ़कर कतिपय महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे, जो बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' से मुझे जो आन्तरिक प्रेरणा और आत्म-विश्वास मिला है, उसे कैसे भुलाया जा सकता है? मेरे अपने मित्र लेफ्टिनेण्ट भूपेन्द्रकुमार सेठी ने मुझे कई बार इस दिशा में लिखने के लिए प्रेरित किया। मुझे प्रसन्नता है कि उनकी प्रेरणा फलीभूत हो रही है। मैं उक्त सभी महानुभावों का हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

भाई क्षेमचन्द्र 'सुमन' तो अनेक अंशों मे धन्यवाद के पात्र हैं। उन्हीं के प्रयत्नों से हिन्दी-क्षेत्र में यह पुस्तक सामने आ रही है।

अब आलोचना-प्रत्यालोचना ही इसकी कसौटी है।

बहादुरगज, उज्जैन —श्याम परमार

क्रम

१.	मालवी : सीमा और क्षेत्र	९
२.	मालवी का विकास	३४
३.	'माच' (मंच)-साहित्य	३८
४.	सन्त-साहित्य	४७
५.	लोक-साहित्य	६६
६.	आधुनिक मालवी : गद्य और पद्य	७५
७.	उपसंहार	८८
८.	परिशिष्ट	९५
९.	सहायक ग्रन्थ एवं सामग्री का निर्देश	१०६

मालवी : सीमा और क्षेत्र

मालवा की सीमा

भारतवर्ष के मध्य भाग मे थोडा पश्चिम की ओर हटकर चार प्रमुख भाषाओं से घिरा हुआ मालव-प्रदेश वर्तमान मध्य भारत प्रान्त के अन्तर्गत दक्षिण भाग में स्थित एवं उसके निकटवर्ती राज्यों मे फैला हुआ एक उन्नत भू-भाग है।[१] भौगोलिक परिसीमाओं से समृद्ध यही भू-भाग मालवा का पठार कहा जाता है, किन्तु यह समझना भारी भूल होगी कि यह पठार अपने-आपमें एक ही भाषा, संस्कृति और जन का द्योतक है। यह तो उन्नत भू-भाग के लिए भौगोलिकों द्वारा निर्धारित संज्ञा-मात्र है।

'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार मालवा विशेष रूप से उस उन्नत पहाड़ी पठार का द्योतक है, जो विन्ध्याचल की श्रेणियों से घिरा हुआ उत्तर मे चम्बल नदी तक व्याप्त है तथा जो दक्षिण की ओर अपने मे नर्मदा घाटी को सम्मिलित करता है।[२] इस प्रकार निमाड भी मालवा का ही

१. यह प्रदेश उत्तर अक्षांश २३° ३० से २४° ३० और पूर्व रेखांश ७४° ३० से ७८° १० के मध्य मे स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग ७६२० वर्गमील है।

२. 'Strictly, the name is confined to the hilly table land bounded S. by Vindhya ranges which drains north into the river Chambal : but it has been extended to include the Narbada Valley further south'—Encyclopaedia Britanica (14th Edition), Page. 747

अंग बन जाता है। भाषा की दृष्टि से उसका कुछ भाग तो स्वभावतः है ही। वस्तुतः इसके मानचित्र पर दृष्टि डालते ही सहज में समझा जा सकता है कि यह पठार 'मालवा का पठार' इसलिए है कि इसमें मालव-जनपद का अधिकांश भाग सम्मिलित है।

डॉ० यदुनाथ सरकार ने अपने 'इण्डिया ऑव औरंगजेब' नामक ग्रन्थ में मालवा के विषय में लिखा है : "स्थूल रूप से दक्षिण में नर्मदा नदी, पूरब में बेतवा एवं उत्तर-पश्चिम में चम्बल नदी इस प्रान्त की सीमा निर्धारित करती थीं।"[१] "पश्चिम में कांठल एवं बांगड के प्रदेश मालवा को राजपूताना तथा गुजरात से पृथक् करते थे और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा हाड़ौती प्रदेश तक पहुँचती थी। मालवा के पूर्व एवं पूर्व-दक्षिण में बुन्देलखण्ड और गोण्डवाना के प्रान्त फैले हुए थे।"[२]

जहाँ तक कि विशेष जन, संस्कृति और भाषा का सम्बन्ध है, सीमा-विषयक उक्त मान्यता अनुचित नहीं है। इसमें किसी जनपद के लिए भाषा की दृष्टि से अनिवार्य एक संगठित रूप विद्यमान है। स्पष्ट है कि यह भाग सम्पूर्ण मालव-पठार का सूचक नहीं, उसका एक टुकड़ा-मात्र है। अतः मालवा की बोली का उल्लेख करते हुए सहसा यह मान लेना कि मालवी समस्त मालवा के पठार पर बोली जाती है, अनुपयुक्त होगा।

मालवी का क्षेत्र

मालवी दक्षिण में नर्मदा नदी के और मध्य में निमाड, भोपाल, नरसिंहगढ, राजगढ, दक्षिण झालावाड, मन्दसौर (दशपुर), नीमच, रतलाम,

१. डॉक्टर सरकार की यह मान्यता मालव-सीमा-सम्बन्धी प्रचलित पंक्तियों—

'इत चम्बल, उत बेतवा, मालव-सीम सुजान।
दक्षिण दिसि है नर्मदा, यह पूरी पहचान॥'

के ठीक-ठीक अनुरूप प्रतीत होती है।

२. महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह द्वारा लिखित, 'मालवा में युगान्तर' नामक ग्रन्थ से उद्धृत।

पूर्व झाबुआ आदि क्षेत्रों को अपने में मिलाती हुई उज्जैन, देवास और इन्दौर जिलों के आस-पास बोली जाती है। यद्यपि मालवी का अधिकांश क्षेत्र मध्यभारत प्रान्त के अन्तर्गत आता है तथापि राजनीतिक सीमाओं के बाहर राजस्थान के कुछ भाग में भी उसका प्रभुत्व है। मध्य प्रदेश के चाँदा और बैतूल जिलों में कुछ जातियों द्वारा भी मालवी बोली जाती है, जिसका उल्लेख उपभेदों के अन्तर्गत किया गया है। विशेष रूप से कोटा के डाँग-प्रदेश में मालवी बोलने वालों की बस्ती है, जिनकी बोली को डंगेसरी कहते हैं।

वर्तमान मालवी वैसे मध्य भारत के उज्जैन, इन्दौर, देवास, मन्दसौर और राजगढ़ जिलों में मुख्यतः प्रचलित है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ४० लाख कूती जाती है। शासकीय व्यवहार की भाषा यद्यपि हिन्दी ही है, पर गाँवों में व्यापार-उद्योग में तथा नगरों के घरों में मालवी का ही व्यवहार सामान्यतः होता है। प्रकृति और स्वभाव के नाते मालवी सरल, धर्मभीरु, सौन्दर्यप्रिय, स्वस्थ और भोले लोगों की बोली है। ह्वेन त्साग (७वीं शताब्दी) ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में यही बात दूसरे शब्दों में बताई है। उसने मालवा की उपजाऊ मिट्टी, फसल और लोगों के स्वभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है: "इनकी भाषा मनोहर और सुस्पष्ट है।"[2]

ग्रियर्सन का भ्रमात्मक वर्गीकरण

मालवी शौरसेनी प्राकृत की सरणी से होती हुई अवन्ती-अपभ्रंश से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करती है। यद्यपि मध्यवर्ती शाखा के अन्तर्वर्ग की भाषाओं में राजस्थानी भी शौरसेनी से सम्बन्धित है तथापि

१. देखिए श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' एम० ए० का लेख 'हिन्दुस्तानी' जनवरी १९३३।

२. देखिए 'ह्वेनत्सांग का भारत-भ्रमण'। अनु०—ठाकुरप्रसाद शर्मा 'सुरेश'।

यह धारणा विवादास्पद है कि मालवी राजस्थानी उपशाखा की एक बोली है। विवाद या मतभेद का मुख्य कारण जार्ज ग्रियर्सन द्वारा निर्धारित भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण है। ग्रियर्सन के पूर्व भारतीय भाषाओं एवं उपभाषाओं का किसी ने समग्र रूप से वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया था। ग्रियर्सन ने सन् १९०७–८ में 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' की वृहद् जिल्दों में राजस्थानी और उसके उपभेदों पर प्रकाश डालते हुए मालवी के सम्बन्ध में विचार किया है। उन्होंने सुविधा के लिए राजस्थानी को पाँच मोटे वर्गों में विभक्त किया। चौथा वर्ग 'दक्षिण पूर्वी राजस्थानी' या मालवी का है, जिसके मुख्य भेद रॉंगडी और सोंधवाडी बताए हैं। प्रसिद्ध भाषाचार्य डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने यह उचित समझा कि राजस्थानी भाषाओं को दो पृथक् शाखाओं[1] में विभक्त कर दिया जाय—१. पूर्वी शाखा (पछाँही हिन्दी) और २. पश्चिमी शाखा। 'कुछ स्थूल विशिष्टताओं' के कारण जिन भाषाओं को 'एक ही सूत्र में गूँथ दिया' गया है वह ठीक नहीं है। टेसीटरी के विचारों के आधार पर वह यह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि 'सूक्ष्मतर वैयाकरण दृष्टि के कारण राजस्थान-मालवा की बोलियों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित करना बेहतर होगा।' साथ ही वह यह भय भी मानते हैं कि मेवाती, निमाडी और अहीरवाटी के साथ मालवी पछाँही हिन्दी से 'ज्यादातर सम्पर्कित है।' ग्रियर्सन ने निमाडी को दक्षिणी राजस्थानी माना है, किन्तु मालवी से उसका निकटतम सम्बन्ध है। इस प्रसंग में मालवी और निमाडी के विषय में थोडा विचार करना आवश्यक है।

मालवी और निमाड़ी

निमाड़ी उज्जयिनी के दक्षिण में नर्मदा नदी के ऊपर भूतपूर्व इन्दौर राज्य के एक भाग में बोली जाती है। भौगोलिक दृष्टि से यह भाग मालवा से अनेक बातों में भिन्न है। समुद्र-तल से मालवा जहाँ आनुपातिक तौर पर

१. डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, 'राजस्थानी भाषा', पृष्ठ ९–१०।

दो हजार फीट ऊँचा है, वहाँ निमाड नीचा है। इसीलिए निमानी होने के कारण यह भाग निमाड, निमावर या निमावड़ कहा जाता है। जलवायु की दृष्टि से निमाड मालवा की अपेक्षा उष्ण है। बाह्य रूप से संस्कृति और स्वभाव के नाते भी मालवा और निमाड मे किञ्चित् भेद अवश्य है। यही भेद परिणामतः निमाड़ी मे, मालवी की शाखा होकर भी, उच्चारण और कतिपय प्रयोगों में अपनी खास प्रवृत्तियो का कारण बनता है। भौगोलिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से दोनो भू-भागो का अन्तर कालान्तर मे **'मालवा का पाँडा ने निमाड का ठाड़ा दोई बराबर'** अर्थात् मालवा का पण्डित और निमाड का गॅवार दोनो बराबर होते हैं, कहावत के रूप मे प्रकट हुआ। यह प्रान्तीयता का संकेत है, जो कदाचित् राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियो से उत्पन्न हुआ होगा। और कहावत मे समाने के कारण अभी भी प्रचलित है।

डॉ० ग्रियर्सन ने निमाड़ी को स्पष्ट ही मालवी से सम्बन्धित बोली माना है, पर राजस्थानी की उपभाषाओं के क्षेत्र मे उसे स्वीकार करना विवादास्पद होगा। निमाड की अन्तर्वर्ती बोलियो मे सबसे अधिक बोलने वाले निमाडी के ही हैं। सन् १६३१ की 'होल्कर राज्य सेन्सस रिपोर्ट' के अनुसार २१७२४७ व्यक्ति निमाडी बोलते है।

जो हो, निमाडी और मालवी के प्रमुख भेदों को ध्यान में रखते हुए हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि दोनों के लोक-साहित्य में एक ऐसी समानता है, जो मालवी और राजस्थानी मे नहीं देखी जाती। राजस्थानी की अपेक्षा निमाड़ी मालवी के अधिक निकट है। यह स्पष्ट करने के लिए दोनों के कुछ लोक-गीत नीचे दिये जा रहे हैं :

"बीरा"

निमाड़ी : **बहेड़ का आँगणा म[1] पिपलई[2] रे ईरा[3], चूनर लावजे**
लाव तो सब सरु[4] लावजे रे ईरा

---

१. में, २. पीपल वृक्ष, ३. बीरा, भाई, ४. लिए।

नी तो रहिजे अपणा देस
माड़ी जाया[1] चूनर लावजे[2]

मालवी : गुया माय की पीपल रे बीरा
जाँ चढ़ जोऊँ[3] तमारी बाट[4]
माड़ी रा जाया चूनर लाजो
चूनर लाजो तो सब सरू लाजो
नी तो रोजो तमारा देस[5]

"भात"

निमाड़ी : झीणी-झीणी रे ईरा उड़ें छः खे बादल दीसे धूँधला जे
बलदारी[6] रे ईरा बाजी छः टाल[7], गाड़ा चखैता म्हे सुण्याजे
म्हारा ईराजीरा चमक्या छः सैल[8], भावजारा चमक्या चूड़लाजे
म्हारी बहनड़ली रा चमक्या छः चीर, भतीजारा मैमन[9] मोलियाजे[10]

"मामेरो"

मालवी : गाड़ी तो रड़की रेत में रे बीरा, उड रही गगना धूल
चालो म्हारा धोहरी[11] उतावला रे म्हारी बेन्या बई जोवे बाट
धोहरी का चमक्या सीगडा, म्हारा भतीजा को झगल्यो झाग
भावज बई को चमक्यो चूडलो म्हारा बीराजी री पचरंगी पाग[12]

---

१. माँ का जाया, २. 'निमाड़ी-लोकगीत' : रामनारायण उपाध्याय : स्नेह-गीत-प्रकरण। ३. देखूँ, ४. मार्ग, ५. 'मालवी लोक-गीत'; श्याम परमार : पृष्ठ ८२। ६. बैल, ७. घंटी, ८. भाले, ९. पगड़ी। १० 'विशाल भारत', फरवरी, १९२९। ११. बैल। १२. 'मालवी लोक-गीत', पृष्ठ ८३।

निमाड़ी मे वैसे बुन्देलखण्डी की कुछ प्रवृत्तियाँ आ मिली हैं। कुछ प्रवृत्तियाँ भीली और मराठी की भी है। उन सभी प्रवृत्तियो की चर्चा यहाँ न करते हुए संक्षेप मे निमाडी के कुछ मुख्य लक्षणो पर प्रकाश डालना उचित होगा।

निमाड़ी के मुख्य लक्षण

(१) 'ख' का बाहुल्य, जो कर्मकारक 'के' अथवा 'को' प्रत्ययो के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे—उनख (उनको), तमख (तुमको), म्हख (मुझको), वणख (उनके) आदि। यह बुन्देलखंडी 'खे' का विकारी रूप है।

(२) क्रिया पदो मे 'ज' अथवा 'जे' या 'च' प्रत्ययों का चलन। जैसे—लावजे (लाना), जायगज (जायगा), आवेज (आयगा) इत्यादि। वर्तमान क्रिया 'है' के लिए गुजराती की 'छे' क्रिया का प्रयोग निमाड़ी मे होता है।

(३) अधिकरण की विभक्ति 'मे' के स्थान पर 'म' का सामान्य प्रयोग। जैसे—उज्जन म (उज्जैन मे), घर म (घर में) आदि।

(४) 'ना' प्रत्यय लगाकर बहु वचन बनाने की प्रवृत्ति निमाडी मे है, जो 'होण' या 'हुण' प्रत्यय के रूप मे भी व्यक्त होती है। 'ना' बहुधा खातियो की बोली मे अधिक प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ :

	एक वचन	**बहु वचन**
'ना' प्रत्यय :	आदमी	आदमीना
	बेरा (स्त्री)	बेराना
	छोरा (लड़का)	छोराना
'होण' प्रत्यय :	आदमी	आदमी होण (हुण)
	बेरा	बेरा होण (,,)
	छोरा	छोरा होण (,,)

मालवी मे 'होण' या 'हुण' प्रत्यय का 'ण' 'न' मे परिवर्तित हो जाता

है। अस्तु; सुनीति बाबू की दो शाखाओं वाली प्रतीति विश्वसनीय मानते हुए मालवी और निमाडी को एक ही शाखा की बोलियाँ स्वीकार करते हुए हम नीचे राजस्थानी और मालवी के गद्य और पद्य के उदाहरण प्रस्तुत करते है :

: अ : राजस्थानी (गद्य)

कोई माणस गा दो बेटा हा। वा माय सूँ लहोड़ी किये बाप ने क्यो क ओ बाबा घर गे धण माल मेगा म्हारे वट आवे जको मने दे दो। जकाम बाप घरगा धण माल गा बाँटा कर दो। वाँ में बाट दयो। थोड़ा-सा दन पाछे लहोडिकियो बेटो आपगो सो धण भेलो करगे अलग मुलक में गयो ओर वटे कुमारग में सा कई खोय दियो।

मालवी (गद्य)

कोई आदमी के दो छोरा था। उनमें से छोटा छोरा ने जई के बाप के कियो के दायजी म्हारे धन को हिस्सो दई दो ओर ओने उनमें माल-ताल को बाँटो करी दियो। थोडाई दन में छोटो छोरो सब अपनो माल-मतो लई ने कोई दूसरा देस चल्यो गयो ओर वाँ आखो चेन मोज मे अपनो धन उड़ई दयो।[1]

: ब : राजस्थानी दूहा

जिण दिन ढोलक आवियउ, निण अगलूणी रात।
मारू सुहिणऊ लहि कह्यउ, सखियाँ सूँ परभात॥
सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ लागी गलि रोइ।
डरपत पलक न खोलहीं, मतिहि बिछोहउ होइ॥
सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ गलि लग्गी धाई।
डरपत पलक न छोड़ही, मति सुपनउ हुइ जाई॥[2]

(मारवणी का स्वप्न)

---

१. देवास, म० भा०।

२. 'ढोला मारूरा दोहा' : काशी ना० प्र० पत्रिका, सं० १९९१ : पृष्ठ १६६।

मालवी दोहा

चंदा म्हारी चाँदनो, सूती पलंग बिछाय।
जद जागी जद एकली, मरूँ कटारी खाय॥
छै छल्ला छै मूदड़ी, छल्ला भरी परात।
एक छल्ला का वास्ते, छोड़या मायन बाप॥
टीकी दे मेंला चढ़ी, बिच काजल की रेख।
सायब को सागो नहीं, लिख्या विधाता लेख॥[1]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी और मालवी में यह नैकट्य नहीं है जो मालवी और निमाडी मे है।

अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाएँ

बोलियों के इतिहास का अध्ययन प्रमाणों के अभाव मे कठिन विषय ही सिद्ध होता है। यह स्पष्ट है कि प्राचीन जनपदों की अपनी-अपनी भाषाएँ कालावधि मे 'प्राकृत' अथवा 'अपभ्रंश' और देश नाम से प्रसिद्ध हुई।[2] किन्तु उन प्राकृतो एवं अपभ्रंशों का प्रमाणों के अभाव मे रूप निर्धारित करना कठिन विषय हो गया है। केवल शौरसेनी अपभ्रंश ही एक ऐसी भाषा है जिससे हम वर्तमान कई बोलियों की उत्पत्ति का अनुमान करते है। किन्तु साहित्य की भाषा और साधारण जन की भाषा का अन्तर ध्यान मे रखते हुए हमे यह स्वीकार करना होगा कि जो साहित्य उपलब्ध है वह बोली जाने वाली भाषाओं से किञ्चित् सुसंस्कृत वर्ग की भाषाओं का ही है। इस दृष्टि से प्राकृत की स्थिरावस्था के परिणाम स्वरूप अपभ्रंश का विकास हुआ और अपभ्रंश की वैयाकरणिक नियम-बद्धतावश आधुनिक प्रान्तीय

1. 'मालवी लोक-गीत', पृष्ठ ६१-६२।
2. "तानपि वैयाकरण निबद्धानपभ्रंश भाषा नियमानुल्लङ्घ्य प्रकृति-प्रवर्त्तमानो विविध जनपद भाषाव्यवहारः सामान्य संज्ञया 'प्राकृत' 'अपभ्रंश' इत्युच्यमानोऽपि विशिष्टतया तत्तद्देशभाषानाम्ना प्रसिद्धिमगात्।"—गा० ओ० सी०, सं० ३७, पृष्ठ ७३।

भाषाओं का। असल में अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है, जो नाना कालों में नाना स्थानों में नाना रूपों में बोली जाती थी।[1] भारत अनेक भाषाओं के लिए प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। महर्षि व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' के शल्य पर्व में इसका उल्लेख आया है :

"नानाधर्माभिराच्छन्न नानाभाषाश्च भारत।"[2]

अतः आज की भाषाएँ सीधे-सीधे पूर्वकालीन अपभ्रंशों की बेटियाँ ही हैं।

अवन्तिजा : मालवी

'प्राकृत-चन्द्रिका' और 'कुवलयमाला' आदि में अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख देशी भाषा के नाम से हुआ है। 'कुवलयमाला' में (१० वीं शताब्दी) १८ देशी भाषाओं की चर्चा आई है। गोल्ल, मध्यदेश, मगध, कीर, टक्क, सिन्ध, मरु, गुर्जर, लाट, कर्णाटक, तमिल, कोशल, महाराष्ट्र, आन्ध्र और मालवा में अपनी-अपनी भाषाएँ बोली जाती थीं। भरतमुनि (दूसरी शताब्दी) ने 'नाट्य-शास्त्र' में संस्कृत के अतिरिक्त मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या इन सात भाषाओं[3] और शबर, अभीर, चंडाल आदि जातियों की विभाषाओं का उल्लेख किया है।[4]

अवन्तिजा अवन्ती-प्रदेश (मालवा) की भाषा रही है यह स्वीकार

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ १७।

२. शल्य पर्व, अध्याय ४६, श्लोक १०३।

३. "मागध्यावन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥"
'नाट्य-शास्त्र', अ० १७, श्लोक ४८-५०।

४. "शबराभीर चंडालसचर द्रविड़ोद्रजा।
हीना वनचराणां च विभाषा नाटके स्मृता :॥"
'नाट्य-शास्त्र', अ० १७, श्लोक ४९-५ ।

करने मे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए। यही 'भाषा' राज्य की सीमाओं के साथ अपना प्रसार करती गई। किन्तु इसका केन्द्र अवन्तिका (उज्जयिनी) ही रहा। राजकीय गौरव प्राप्त करने के फल स्वरूप नाटकों मे अवन्ती-प्रवृत्ति का प्रचार भी हुआ। राजशेखर के अनुसार अवन्ती-प्रवृत्ति का प्रचार विदिशा, सौराष्ट्र, मालवा, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि जनपदो मे था।[1] किन्तु अवन्ती-अपभ्रंश जन-भाषा के साथ खिचती चली। राजकीय शिथिलता ने क्रमशः इसके स्वाभाविक विकास में योग दिया। जन-वाणी के रूप मे अवन्तिजा प्रवाहित होती रही। अतः आज जो मालवी मालव-प्रदेश मे विद्यमान है वह उसी अवन्तिजा की वंशजा सिद्ध होती है। इसी प्रकरण मे मालवो का उल्लेख आवश्यक है। मालवी को कतिपय विद्वानो ने मालवों की भाषा माना है। बताया गया है कि मालव वर्तमान मालवा मे उत्तर की ओर से आए थे। इनके आगमन का समय लगभग दूसरी शताब्दी निश्चित किया जाता है। किन्तु कुछ नये प्रमाणो से मालवगणो का दूसरी शताब्दी के पूर्व मालवा मे होना निश्चित होता है। यहाँ केवल यही ध्यान रखा जाय कि अवन्ती-प्रदेश राजकीय सीमा का द्योतक है, और मालवा उसके अन्तर्गत एक जातीय संस्कृति का भू-भाग—जनपद। अवश्य ही अवन्ती-प्रदेश की राजकीय भाषा कुछ सुसंस्कृत रही होगी जब कि उसीके समानान्तर जन-भाषा अपने-स्वाभाविक रूप मे गतिशील थी। दोनो मे उतना ही अन्तर होगा जितना आजकल हम लिपिबद्ध मराठी और बोल-चाल की मराठी मे देखते हैं। कदाचित् इन्ही विचारो से अभिभूत होकर राइज डेविड्स के शब्दो मे श्री भगवतशरण उपाध्याय ने अवन्ती को बौद्धों का दूसरा केन्द्र स्वीकार करते हुए पालि-पिटको को अवन्ती प्राकृत मे लिखा गया घोषित किया है।[2] बौद्ध धर्म का स्थायित्व प्रचार पर अवलम्बित था, और प्रचार के लिए जन-भाषा

१. 'ततः सोऽवन्तीन् प्रयुच्चचाल यात्रावन्तीवैदिश सुराष्ट्र मालवार्बुद भृगुकच्छादयो जनपदाः।' 'काव्य-मीमांसा', अ० ३, पृष्ठ ६ (गा० ओ० सी०, सं० १)।

२. 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृष्ठ १०२।

का प्रयोग आवश्यक था। राजशेखर के समय लोक-भाषाओं के कवियों का सम्मान होने लगा था। उनके लिए दरबार मे व्यवस्था की गई थी। इसका ब्यौरा 'काव्य-मीमासा' मे विस्तार पूर्वक दिया गया है। जहाँ तक मालवी का सम्बन्ध है 'काव्य-मीमांसा' द्वारा एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है। इसमे सन्देह नही कि अवन्तिजा मालवी की जननी है। नवीन प्रश्न भूत भाषा से सम्बन्धित है। राजशेखर ने लिखा है कि अवन्ती (मध्य मालवा), परियात्रा (पश्चिमी विन्ध्य प्रदेश) और दशपुर (उत्तर मालवा) के लोग भूत भाषा का प्रयोग करते थे :

"आवन्त्याः परियात्राः सहदशपुरैभू तभाषा भजन्ते।"[१]

यह 'भूत भाषा' उसके अनुसार 'पैशाची' है। चार प्रकार की प्राकृतो की चर्चा मे 'पैशाची' को उनका एक भेद स्वीकार किया गया है। वररुचि ने उसको प्राकृत शौरसेनी के अनुरूप बताया है, और रुद्रट ने 'काव्यालंकार' मे उसे एक साहित्यिक भाषा माना है। 'ऋग्वेद' मे पिशाचो को अनार्य जाति का बताया गया है।[२] अतः पैशाची अनार्य भाषा होनी चाहिए। अभी तक के प्रचलित अनुमानित निष्कर्षो मे पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी का यह मत हमे समीचीन जान पडता है : **"वह कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं थी, बल्कि आर्य भाषा का आर्येतर-भाषित विकृत रूप है। ठीक वैसे ही जैसी शान्तिनिकेतन मे काम करने वाले संथालों की बंगला।"**[३] अतएव पैशाची अथवा भूत भाषा को दक्षिण मालवा की भाषा कहना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त रुद्रट (९ वी शताब्दी) ने अपभ्रंशो के अनेक भेदों मे मालवी को एक भेद स्वीकार किया है, जिससे मालवा की अपनी स्वतन्त्र भाषा का अस्तित्व प्रकट होता है। यदि पैशाची मालवा की भाषा होती तो वह मालवी का उल्लेख क्यो करता ? इतना बडा कालान्तर आज की मालवी और ८ वी शताब्दी के बाद की मालवी मे एक बडा भेद

---

१. 'काव्य-मीमांसा', अ० १०, पृष्ठ ५१।

२. 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृष्ठ २६।

३. 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ १७।

उपस्थित करने में सहायक हुआ है। रुद्रट के समय की मालवी अपभ्रंश तो है ही, किन्तु अवन्ती अपभ्रंश और उसमे भेद न समझा जाना चाहिए। अपभ्रंश भाषा की कविताओं मे असंख्य मालवी शब्द[1] अवन्ती अपभ्रंश से उसका नाता जोड़ने मे पीछे नही है। इससे यह भी प्रकट होता है कि प्राचीन मालवी का कभी अपना साहित्य रहा होगा। नाटको मे प्रत्यक्ष रूप से अवन्तिजा का प्रयोग उसके प्रभाव को सिद्ध करता है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे यद्यपि मालवों की मालवी का उल्लेख नहीं है, पर यह निश्चित है कि

---

१. देखिए—'हिन्दी-काव्य-धारा' : राहुल सांकृत्यायन, १९४५। कुछ मालवी शब्दों के प्रयोग नीचे दिये जा रहे हैं —

(स्वयंभू ई० ७९०) 'सक्कर खंडेहि पायस पाय सोही।
लड्डुव-लावण-गुल इक्खु-रसेंहिं।' (पृष्ठ ४८)
'उच्छंगी पडिउ वइदेहि हे, णावई हरिसहां पोट्टलउ' (पृष्ठ ६४)।

भुसुकुपा (८०० ई०) 'राअ-नावड़ी पँउ अखँड बहिउ'— (पृष्ठ १३६)।

गोरखनाथ (८४५ ई०) 'सहजि अंगीठी भरि-भरि' राँधे'-(पृष्ठ १५८)
'जीत्या संग्राम पुरिष भया सूरा' (पृष्ठ १५८)
'सासूड़ी पालनड़े बहुडो हिंडोले' (पृष्ठ १६१)
'सोने रूपै सीझै काज' (पृष्ठ १६३)।

टेंडण (तंति) पा (८४५ ई०) 'वलद बिआअल गविआ बाँझे।
(देश-अवन्तीनगर) पिटहु दुहिअई एतिनी साँझे॥' (पृष्ठ १६४)

जिनदत्त सूरि (११८० ई०) 'जो व्वणत्थ जा नच्चइ दारी' (पृष्ठ ३५४)।
'बेट्टा-बेट्टी परिणाविज्जहिं' (पृष्ठ ३५४)।

—इत्यादि

आर्यों की बोली उत्तर मालवा से दक्षिण मालवा तक उस समय के लगभग प्रचलित हो गई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो विदित होगा कि गुप्त-साम्राज्य के पश्चात् लोक-भाषाओं ने बल पकड़ा और १४-१५ वीं शताब्दी तक आते-आते अधिकांश रूप से इन भाषाओं का रूप निर्धारित हो गया।

डॉ० चाटुर्ज्या का मत

डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने मालवी के सम्बन्ध में लिखा है: **"मालवे की बोली के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि दरअसल यह मध्यदेश की भाषा ही की एक शाखा है, पर इस पर इसकी पश्चिम की पड़ोसी मारवाड़ी-राजस्थानी का काफी प्रभाव पड़ा, जिसके कारण इसमें मध्यदेश की भाषा से लक्षणीय कुछ स्थानीयपन आ गया है।"** अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिए डॉ० चाटुर्ज्या दो भिन्न आर्य-संस्कृतियों की शाखाओं के ऐतिहासिक सत्य को भाषा-विज्ञान के सूक्ष्म सिद्धान्तों सहित प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इससे विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता, किन्तु मालवी की स्वतन्त्र धारा का सिद्धान्त-सूत्र अवश्य पुष्ट हो जाता है। ६वीं शताब्दी के लगभग मालवी के स्वतन्त्र होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। मालवी उस समय लोक-व्यवहार की भाषा होकर भी शिक्षा के क्षेत्र मे उपयोगी सिद्ध हो रही थी। 'कुवलयमाला' (८वीं शताब्दी) की एक गाथा में मालवी के प्रयुक्त होने की बात बताई गई है:

"तणु-साम-मऽहदेहे कोवणए माण-जीविणो रोद्दे।
भाउअ भइणी तुम्हें' भणिरे अह मालवे दिट्ठे॥"[1]

मालवी का अन्य भाषाओं पर प्रभाव

मालवी कोमल और कर्ण-प्रिय बोली है। इसमें कई भिन्न भाषाओं

---

१. "तनु-श्याम लघुदेहान् कोपनान् मान जीविनो रौद्रान्।
'भाउअ भइणी तुम्हें' भणतोऽथ मालवीयान् दृष्टवान्॥"
—'कुवलयमाला कथायाम्' (जे० भा० ता० १३१-२) गा० ओ० सी० संख्या ३७, पृष्ठ १३।

के शब्द स्वाभाविक रूप से इस तरह आ मिले हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। आवागमन, व्यापार और राजनीतिक परिवर्तनों का महत्त्वपूर्ण स्थल होने के कारण कई संस्कृतियों और जातियों से यहाँ के निवासियों का सम्पर्क रहा है। किन्तु मालव-दल के यत्र-तत्र जाने से मालवी का प्रभुत्व भी समय-समय पर अन्य भाषाओं पर हावी हुआ। मालवों की भाषा होने के कारण यह सदैव ही स्थानान्तर गति की कायल रही है और उसमें शब्दों के आदान-प्रदान का क्रम निश्चित रूप से बना रहा। यह बात इतिहास-सम्मत है कि मालवों ने पहाडी प्रान्तों में प्रवेश करके अपनी बस्तियाँ बसाईं। अतः अपनी भाषा को वे दूर-दूर तक लेते गए। आज भी पहाडी बोलियों और मध्य एशिया के घुमन्तुओं की बोलियों में जो मालवी शब्द मिलते हैं अथवा जयपुर के निकटवर्ती प्रदेश या मोटे रूप मे राजस्थानी प्रदेश की कुछ बोलियों से उसका जो नैकट्य प्रतीत होता है, उसके मूल मे यही कारण है। सैकड़ो मालवी शब्द पंजाबी, मराठी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मैथिली और गढ़वाली में भी मिलते हैं। भोजपुर परगने मे नयका और पुरनका नामक दो गाँव उज्जैन और धार के परमार-वंशीय राजपूतों द्वारा ११वीं और १४वी शताब्दी के बीच मालवा से जाकर अधिकृत किये गए थे। डॉ० बुकनिन ने सन् १६२६ में पटना से प्रकाशित 'जरनल' मे इस बात का उल्लेख किया है। मालवी शब्दो का भोजपुरी में पाये जाने का एक यह भी कारण हो सकता है कि इस ओर से जाकर वे लोग वहाँ बस गए थे। नेपाल के मल्ल राजाओं का प्रभुत्व मध्य-काल में रहा, जिन्होंने नाट्य-साहित्य को प्रोत्साहन दिया और गीति-नाट्य की परम्परा स्थापित की, जो नेपाल मे सन् १७६८ तक मल्ल राजाओं के परास्त होने तक बनी रही। किन्तु मालवा में यह परम्परा आज भी जीवित है। गढ़वाली के लोक-गीतों में मालवी के अधिकाश शब्द भरे पड़े हैं और उनकी प्रथाएँ भी प्रायः मालवा से काफी साम्य रखती हैं। पवाड़े, मंगल-गीत, विवाह-गीत, देवी-देवताओं के गीत तथा परम्परा से प्राप्त लोक-साहित्य में मालवी शब्दो के रूप मिलना

मालवी के घुमन्तु-प्रभाव को व्यक्त करने मे काफी सहायक होते हैं। नीचे कुछ ऐसे गढ़वाली गीत[1] दिये जा रहे हैं, जिनमे इटैलिक टाइप मे छपे शब्द मालवी के हैं :

"*पूरी* देंदा *पौणे* कणठी लहांद दीठ
हमना नी जाणी, रूड़िया को जायो
मिठै देन्द पौणो मिठाई लहाँद दीठ
हमना नी जाणो, *हलवाई* को जायो

कालाडाडा बीच बाबाजी, कालीच कुण्ड़ी
बाबाजी, *एकुली* मैं लगदी चडर[2]

हे ऊँची डाँडियो, *नीसी होवा*,
घणी कुलाई *छाँटी* होवा।
मैं कुलाई छ खुद मैंतुड़ा की,
देश बाबाजी को देखणा देवा॥[3]

एक मालवीपन से पूरित सम्पूर्ण 'मांगल'-(मंगल) गीत देखिए :

दे देवा बाबाजी, कन्या को दान
दानूँ माँ को दान हो लो कन्या को दान
हीरादान, मोतीदान सब कोई देला
तुम देल्या बाबाजी, कन्या को दान

---

१. 'जनपद' (अंक २) 'गढ़वाली लोक-गीत', पृष्ठ ५५, ५६, ५७।

२. पूरी (मा०), पौणो (मा० पावणो), हमना नी जाणा, रूड़िया को जायो (मा० हमनो जाणा रूड़ी जायो), हलवाई (मा० हलवई)। कालाडाडा बीच (मा०कालाडाडा बिच), बाबाजी (मा०बाबाजी), एकुली (मा० एकली)।

३. नीसी होवा (मा० नीची हुवे), घणी (मा०), छाँटी (मा०), देस बाबाजी को देखणा देवा (मा० बाबाजी को देस देखणा देवो)।

जिमिदान, भूमिदान, सब कोई देला
को भागी देला, कन्या को दान

मालवी के उपभेद

मालवी के कुछ अपने उपभेद हैं, जिनका वर्गीकरण सुविधा के लिए करना अनिवार्य है। ऐसे भेद प्रमुख स्थानो और जातियों से जाने जाते हैं। जैसे—रतलाम क्षेत्र की 'रतलामी', उमठवाड़ (राजगढ़-नरसिंहपुर-खिलचीपुर क्षेत्र) की 'उमठवाड़ी', मन्दसौर (दशपुर) की मन्दसौरी, सोधवाड[1] की सोधवाडी, मेवातियों की मेवाती, भोयरो की भोयरी, पटवो की पटवी,

---

१. सोंधियों की बसावट के कारण ही सोंधवाड़ नाम पड़ा है। यह भाग उज्जैन जिले के उत्तर पूर्व में आगर नामक स्थान के उस ओर है। इसी जाति से सोंद्वाडी मालवी एक भेद चला है। स्थान-सूचक होने के कारण प्रस्तुत पुस्तक में यह भेद जाति-सूचक उपभेदों में नहीं रखा गया है। 'सोंधियों' को 'सोड़िया' भी कहा जाता है। सन् '३३ की जन-गणना के अनुसार इनकी संख्या दो लाख के लगभग मानी गई है। सर जॉन मालकम के समय यह जाति अत्यन्त ही लुटेरी और खूँख्वार थी ('No race can be more despised and dreadful than the sondhias')। किन्तु अब यह खूँखार होकर भी लुटेरी कम है। 'सोंधिया' को कुछ विद्वान् 'सन्ध्या' का अपभ्रंश मानते हैं, जिसका अर्थ हुआ 'मिश्रित'। अपने विचित्र उच्चारण में ये लोग अपने को 'होड़िया' कहते हैं और अपनी उत्पत्ति की एक यह अद्-भुत कथा कहते हैं—किसी राजकुमार का मुँह जन्म से ही शेर का-सा था। उसके माँ-बाप ने उसे जंगल में निकाल दिया और वहीं रहकर वह भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों से विवाह करके 'सोड़ियों' का आदि पुरुष हुआ।—(देखिए श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' एम० ए० का लेख, 'हिन्दुस्तानी', जनवरी १९३३)।

राजपूतों की 'रागड़ी', आदि। भेदों की पहचान उच्चारण, विभक्ति, प्रत्यय, कारक-चिह्न, सर्वनाम, क्रियापद, विशेषण आदि के प्रयोग से हो जाती है। केवल सर्वनाम 'मैं' के लिए 'हूँ', 'म्हूँ', 'म्हू', 'म्ह' अथवा 'तू' के लिए 'थें', 'तूँ', 'तन' आदि रूप मिलते हैं। इसी प्रकार 'उनके' के लिए 'वनखे', 'विनखे', 'वर्णीके' 'वणके', आदि या 'तुमको' के लिए 'तमखे', 'तमख', 'तमारके', 'तमारखे', 'त्हाके' आदि अथवा क्रियापद 'कहा' के लिए 'किथो', 'कयो' आदि रूप सरलता से मिल जाते है। स्थानाभाव के कारण इस सम्बन्ध मे विस्तार पूर्वक यहाँ चर्चा नही की जा सकती।

मालवी के कुछ भेदों की प्रवृत्तियाँ

सोंधवाड़ी

१. स-कार (श-कार भी) के स्थान पर ह-कार का प्रयोग। जैसे—हमज्यो (समझा), होडिया (सोडिया), हाथी (साथी), हक्कर (शक्कर), हॉझ (सॉझ), हुपनो (सपना), हुण्यो (सुना) आदि। यह प्रवृत्ति राजस्थानी से प्रभावित गुजराती के कुछ उपभेदो मे भी है। इसके अतिरिक्त सिन्धी और लहन्दी तथा पुरानी मराठी में भी यह मिलती है। डॉ० चाटुर्ज्या इसे किसी बाहरी भाषा के प्रभाव से कुछ विशेष शब्दों या प्रत्ययो मे आया समझते है।

कभी-कभी ह-कार का लोप भी हो जाता है। पर यह बहुत कम होता है। जैसे 'ह्रया' का 'वयो', 'ल्होरो' का 'लोरो' आदि।

२. सोंधवाड़ी मे 'ल' का उच्चारण मराठी के 'ळ' के अनुरूप होता है।

३. मालवी के इस उपभेद मे 'ब' का 'व' मे परिणत होना सहज है। जैसे—'वात' (बात), वाट (बाट) आदि।

४. मराठी, सिन्धी तथा लहन्दी आदि में प्रयुक्त 'ण' मूर्धन्य ध्वनि सोंद्वाड़ी में लक्षणीय है। जैसे—समजणो (समझना), रोवणो (रोना), कणी

(कौन) आदि । शुद्ध या मध्यवर्ती मालवी में यह ध्वनि लुप्त होती जा रही है ।[1]

रागड़ी : रजवाड़ी

१. रागड़ी में भूतकालीन क्रिया 'था' का 'थको' रूप लक्षणीय है । यथा—तू गया थको (तू गया था), कुण आयो थको (कौन आया था) इत्यादि ।

२. आदरवाचक 'जी' या 'सा' (साहब) प्रत्यय राजस्थानी से होता हुआ रागड़ी में उसी प्रकार प्रयुक्त होता है । दोनों का संयुक्त प्रयोग भी नामोच्चारण के अभाव में होता है । जैसे—'जीसा, म्हन कद कियो ?' (जी साहब, मैंने कब कहा ?), 'म्हार से जीसा बोल्या' (मुझसे जी साहब बोले) आदि ।

३. 'ण' और 'ल' मूर्धन्य ध्वनियाँ रागडी मे विशेष प्रचलित हैं ।

उमठवाड़ी

१. 'हे' कर्मकारक का चिह्न उमठवाडी मे 'मे' के स्थान पर प्रयोग मे आता है । जैसे—घर हे (घर मे), बाड़ा हे (बाड़े मे) आदि ।

२. 'इधर-उधर' के लिए 'अनॉग-उनॉग' प्रयुक्त होते है ।

३. 'थ' और 'ध' के स्थान पर 'त' और 'द' का विपर्यय साधारण बात है । जैसे —सात (साथ), हात (हाथ), बान्द्यो (बॉधा) आदि ।[2]

डंगेसरी

१. 'थो', 'तुम', 'हम', 'मे', 'को' आदि पदो के स्थान मे 'हो', 'थॉ', 'म्हॉ', 'हे', 'ने' आदि बोले जाते है ।

२. ण–कार की प्रवृत्ति इसमे भी है ।

३. स्वर और व्यंजनों मे प्रायः परिवर्तन होता है । जैसे—'विनती',

---

१. सोंधवाड़ी बोलने वालों की संख्या लगभग दो लाख है । इन्दौर, टोंक, झालावाड़ (राजस्थान) और भोपाल में इनका प्रसार है ।

२. बोलने वालों की संख्या लगभग २० लाख है । केन्द्र नरसिंहगढ़ ।

'दिन', 'हाथ' आदि के लिए 'वणती', 'दन', 'हात' आदि ।[१]

बागड़ी

१. स–कार के स्थान पर ह–कार की प्रवृत्ति ।

२. प्रेरणार्थक क्रिया 'ड' के संयोग से बनती है (मारवाड़ी की भाँति) ।

३. कुछ शब्दो का उच्चारण-वैशिष्टय भी ध्यान देने योग्य है । जैसे—'भागे-भागे' की जगह 'भाग्या-भाग्या', खूँखार की जगह 'खॅखारना' आदि ।

अब उपभेदों की चर्चा छोड़कर समग्र रूप से मालवी की प्रमुख प्रवृत्तियो की चर्चा करना अभीष्ट होगा ।

मालवी के सामान्य लक्षण

१. 'इ' उच्चारण का 'अ–कार' मे परिवर्तन होना । जैसे—दन (दिन), हरण (हरिण), पंडत (पंडित) आदि । राजस्थानी मे जहॉ 'सिरदार', 'मिनक' आदि शब्द होते हैं, वहाँ वे मालवी मे 'सरदार' या 'मनक' रूप मे ही प्रयुक्त होंगे ।

२. 'ऐ' और 'औ' ध्वनियॉ मालवी उच्चारण में 'ए' और 'ओ' हो जाती हैं । जैसे—ओर (और), चेन (चैन), जे (जय) आदि ।

३. 'य' और 'ब' का 'ज' और 'व' में परिवर्तित होना । यह प्रवृत्ति नागरो और औदीच्यों की मालवी में विशेष रूप से पाई जाती है ।

४. शब्द विकृत करने की प्रवृत्ति भी मालवी मे स्थित है । जैसे—किसन्यो (किसन), सुमन्यो (सुमन), बालूडो (बालक), भेर्‌यो (भेरू), रुपट्टी (रुपया) आदि ।[२]

उज्जैनी

व्याकरण की दृष्टि से उपभेदों को हम स्थूल रूप से विभाजित करते हैं

---

१. बोलनें वालों की संख्या लगभग ६ लाख है । कोटा के समीप 'डॉग' भाग में यह विशेष रूप से बोली जाती है ।

२. परिशिष्ट में ऐसे विभिन्न प्रकार के मालवी उदाहरण दिये गए हैं, जिनसे मालवी की विशिष्टताओं का ज्ञान होता है ।

तो हमें मध्यवर्ती मालवी से ही आरम्भ करना पड़ता है। मध्यवर्ती मालवी से तात्पर्य मालवा के केन्द्र में बोली जाने वाली मालवी है। ऐतिहासिक प्रमाणों मे अधिक न उलझते हुए टकसाली या मध्यवर्ती मालवी का क्षेत्र उज्जैन जिला ही घोषित किया जाता है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे जब अंग्रेज ईसाइयों ने धर्म-प्रचारार्थ भारतीय भाषाओं और बोलियों में 'बाइबिल' के अनुवाद तैयार किये तब कलकत्ता के समीपवर्ती श्रीरामपुर केन्द्र के ईसाई विद्वान् केरी, वार्ड और मार्शमन ने उज्जैन की समीपवर्ती मालवी को ही उपयुक्त समझा। उन्होने उसे मालवी न कहकर 'उज्जैनी' कहा, और स्थान विशेष के नाम से ही अपनाया। अतः 'उज्जैनी' को ही मध्यवर्ती मालवी मानना उचित होगा।[1]

'बारह कोस पर बोली बदले' कहावत की सत्यता को हम मालवी पर घटित करके अच्छी तरह परख सकते हैं। सुविधानुसार मालवी के स्थान-सूचक एवं जाति-सूचक उपभेद नीचे दिये जा रहे हैं—

१ स्थान-सूचक उपभेद

'उज्जैनी' (आदर्श मालवी)

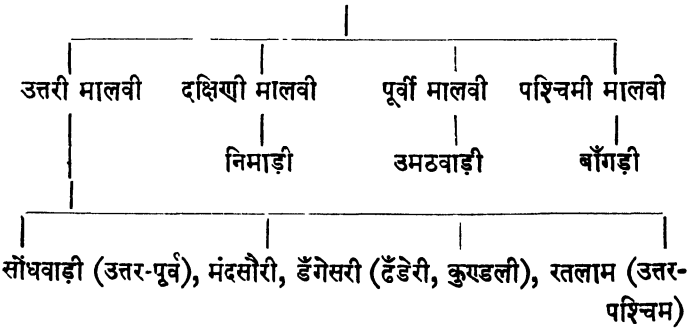

1. टकसाली मालवी के उदाहरण परिशिष्ट में दिये जा रहे हैं।

नाम	क्षेत्र	प्रभाव
'उज्जैनी'	जिला उज्जैन	आदर्श मालवी
उत्तरी मालवी	रतलाम, जावरा, मन्दसौर कोटा के समीप डॉग प्रदेश एवं कोटा रियासत (भू० पू०)।	राजस्थानी, मारवाड़ी
दक्षिणी मालवी	नर्मदा नदी का मध्य उत्तर-प्रदेश।	निमाडी, मराठी
पूर्वी मालवी	नरसिंहगढ़, सीहोर, दक्षिण झालावाड़ और भोपाल का पश्चिमी क्षेत्र।	बुन्देलखण्डी
पश्चिमी मालवी	जोबट, अलिराजपुर झाबुआ।	गुजराती, भीली

२ जाति-सूचक उपभेद

उपभेद	जाति	स्थान	बोलने वालों की संख्या	प्रभाव	विवरण
१. रागड़ी (राजवाड़ी)	मालवी राजपूत	मालवा में जहाँ-जहाँ रहते हैं	लगभग दो लाख	राजस्थानी मारवाड़ी	राजस्थान से आकर बसने वाले राजपूतो की बोली, जिन्होने मालवी को अपनाया, पर राजस्थानी उच्चारण वैसे ही रहने दिए।
२. नागरी	नागर, औदीच्य और गुजराती माली	,,	पचास हजार के लगभग	गुजराती	ये जातियाँ गुजरात की ओर से कई शताब्दियो पूर्व आकर बसीं।
३. गूजरी	गूजर	,,	एक लाख के लगभग	,,	गूजरों के कई गाँव मालवा में हैं। इनकी बोली और नागरी में थोड़ा अन्तर है।

उपभेद	जाति	स्थान	बोलने वालों की संख्या	प्रभाव	विवरण
४. मेवाती	मेवाती	,,	पच्चास हजार के लगभग	विभिन्न प्रभाव	मालवा में मेवातियो के अनेक गॉव हैं ।
५. पटवी	पटवा	मध्य प्रदेश का न्यॉटा जिला	एक हजार के लगभग	मराठी गुजराती का विकारी प्रभाव	पटवा रेशम (पाट) का काम करने वाली जाति है इन्हीं लोगों की बोली गुजराती क्षेत्र में "पटणली" या "पटवेगीरी" कही जाती है ।
६. ढोल्लेवाड़ी	कुरमी	मध्य प्रदेश का बैतूल जिला तथा छिन्दवाडा	एक लाख के लगभग	उमठवाडी बैसवाड़ी बुन्देली	कुरमी अपने को उन्नाव जिले की ओर से आया बताते है ।
७. भोयरी	भोयर	,,	बीस हजार के लगभग	विभिन्न प्रभाव	कहते है भोयर पहले मालवा मे रहते थे । उनका स्थान भोज की धारा नगरी था ।

८. मालवई	पंजाब के मालव	मालवा (पंजाब)	—	पंजाबी प्रभाव	वैसे मालवई पंजाबी का एक उपभेद माना गया है, पर उसका मालवी से निकट सम्बन्ध है। कदाचित् पंजाबी प्रभाववश उसे पंजाबी का उपभेद माना गया है।

: २ :

मालवी का विकास

देशी भाषाओं के विकास का युग कब से आरम्भ हुआ, इसका ठीक-ठीक निर्देश करना सम्भव नही है। इसमे सन्देह नही कि ये देशी भाषाएँ अपभ्रंश की बेटियाँ और पोतियाँ हैं। वर्तमान प्रादेशिक भाषाएँ एवं उनकी उपभाषाएँ स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नही हुई है। बीच-बीच मे जो परिवर्तन का समय आया वह प्रधान रूप से राजनीतिक घटनाओं से और गौण रूप मे अपने स्वाभाविक विकास से सम्बन्धित है। विक्रम की ८ वीं और ६ वीं शताब्दी से जो परिवर्तन-क्रम लागू हुआ वह विक्रम की १३ वीं और १४ वीं शताब्दी तक चलता रहा। "वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं।"[1] इस प्रवाह-परिवर्तन मे भिन्न-भिन्न भाषाओं का स्वरूप स्पष्ट करना एक स्वतन्त्र विषय है। किसी भाषा मे साहित्य-निर्माण आरम्भ हो जाने से वह काफी समय तक बोल-चाल की भाषा बनी रहती है। प्रसिद्ध सन्तों तथा प्रचारकों आदि के द्वारा माध्यम बनाए जाते ही उसे महत्त्व प्राप्त हो जाता है। ६ वीं शताब्दी के बाद सिद्धों ने अभिव्यक्ति के हेतु लोक-भाषाओं का सहारा लिया। रामानन्द तथा कबीर आदि कवियों ने भी उसी परम्परा को अपनाया। इस तरह प्रयुक्त भाषाओं के आधार पर १२ वीं शताब्दी तक भाषाओं का स्वतन्त्र रूप प्रकट हो गया था। राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' से भी यही सिद्ध होता है।

---

१. राहुल सांकृत्यायन : 'हिन्दी-काव्य-धारा', पृष्ठ १२।

अपभ्रंश के क्षेत्र में मालवा और उसके निकटवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। इसमे कतिपय भेदो के साथ कुछ ऐसी उपभाषाएँ वर्तमान थीं, जिनका सम्बन्ध अवन्तिका की भाषा से था। इन सभी भाषाओं पर आभीरों का बहुत प्रभाव पडा। अध्येताओ का कथन है कि तत्कालीन अपभ्रंश के निकट आधुनिक मालवी, राजस्थानी और गुजराती है। एक भाषा (अपभ्रंश) का प्रभुत्व होने से प्रादेशिक भेदो को उठने का अवसर नही मिला। फिर अपभ्रंश थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ सभीको समझ मे आ जाती थी। अतएव १२ वीं शताब्दी तक उसमे स्वतन्त्र साहित्य-रचना होने की सम्भावना कम ही प्रतीत होती है। यदि कुछ रचनाएँ हुई भी हों तो वे कालान्तर मे नष्ट हो गई होंगी।

भोज के समय (संवत् १०६७-११०७) साहित्य और कला का प्रशंसनीय विकास हुआ। स्वयं भोज ने देशी भाषा के साहित्य को प्रोत्साहन दिया। उसके समय देशी भाषा (मालव-प्रदेश की मालवी) में रचनाएँ अवश्य लिखी गई हैं। नवीनतम प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो चली है। बारहवीं शताब्दी से परमारो की शक्ति कम होने लगी और सोलंकियों का प्रभाव बढ़ने लगा तथा अनेक छोटे-मोटे राज्य मालवा मे बन गए। यह समय निश्चित रूप से लोक-भाषा के व्यवहार का रहा है। उस समय ग्रन्थो का लिखा जाना सम्भव न था। मालवी का स्वरूप इस काल में बदलने लगा। अनेक उपभेदों की सृष्टि इसी समय हुई प्रतीत होती है। १७वीं शताब्दी तक परिवर्तन तेजी से हुए। उसके पश्चात् परिवर्तन की गति धीमी हो गई।

प्राचीन मालवी का साहित्य अपभ्रंश-साहित्य की खोज से सम्बन्धित है। इसी तरह मध्यकालीन मालवी का साहित्य राजाओं-महाराजाओ के कागज-पत्रों, मन्दिरों और माण्डलिकों की पोथियों मे दबा हुआ है। यही स्थिति पूर्वाधुनिक मालवी के साहित्य की भी है। मालवी साहित्य इस प्रकार प्रयत्नो के अभाव मे अनिश्चित काल से दबा पड़ा है। उज्जैन के प्राच्य-ग्रन्थ-संग्रहालय मे कुछ ऐसी ही सामग्री आई है। मध्य भारत में

विलीन हुई रियासतो के कागजो मे भी बहुत-कुछ उपयोगी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह ने लिखा है : "१८वीं सदी एवं उससे बाद तक किस प्रकार व्रजभाषा (पिंगल) और यदा-कदा डिंगल (राजस्थानी) ही काव्य-भाषाएँ रहीं एवं मालवा में साहित्यिक गद्य का अभाव ही था। पत्रों एवं बोल-चाल आदि की भाषा भी स्थान एवं समाज के अनुसार बदलती थी। तत्कालीन जो भी पत्र प्राप्य हैं एवं जो भी दान-पत्र आदि सनदें मिलती हैं उनमें अवश्य मालवी का यत्र-तत्र स्वरूप देखने को मिलता है। अंग्रेज़ों के आधिपत्य के साथ ही जब जन-साधारण को कुछ शान्ति एवं सुरक्षा प्राप्त हुई तब वे पुनः मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद की ओर ध्यान देने लगे और यों लोक-रंजन के लिए माच आदि का प्रारम्भ हुआ। मालवा के स्थानीय सन्तों की रचनाओं में मालवी का पुट होना सर्वथा स्वाभाविक है।"[1]

व्यक्तिगत रूप से कुछ महानुभावो ने ऐसी सामग्री एकत्र करने का प्रयत्न किया है जिससे मध्यकालीन एवं पूर्वाधुनिक मालवी साहित्य पर प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध एवं सम्भावित सामग्री के आधार पर मालवी साहित्य १. लिखित और २. अलिखित दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है।

लिखित के अन्तर्गत १. वह साहित्य, जिसकी खोज होनी शेष है, २. वह साहित्य जो खोजा जा चुका है, और ३. वह जो मुद्रित है। अलिखित के अन्तर्गत मौखिक साहित्य ही होगा, जिसे हम लोक-साहित्य की संज्ञा से अभिहित करेगे।

वर्तमान मालवी के दो स्वरूप हैं—ग्रामीण मालवी और शहरी मालवी। दोनों स्वरूपो में कोई अधिक भेद नही है। उच्चारण की भिन्नता एवं कतिपय शब्दो के परिष्कार से यह अन्तर सहज ही समझ मे आ जाता है।

१. लेखक को लिखे गए एक व्यक्तिगत पत्र से उद्धृत। (२७ मई १९५३)।

विकास-क्रम की दृष्टि से मालवी का इतिहास किञ्चित् संदिग्ध है। किसी भी आयुध-जीवी जाति के साहित्य एवं उसकी भाषा के प्रति यह सन्देह स्वाभाविक है। अतएव उक्त विवेचन के आधार पर मालवी के विकास की छः अवस्थाएँ हम निर्धारित कर सकते हैं —

: अ : *प्राचीन मालवी* :	१ अवन्ती प्राकृत २ अवन्ती अपभ्रंश	११वी शताब्दी तक
: आ : *मध्यकालीन मालवी* :	३ पूर्व मध्यकालीन मालवी ४ उत्तर मध्यकालीन मालवी	१८वी शताब्दी के मध्य तक
: इ : *आधुनिक मालवी* :	५ पूर्वाधुनिक मालवी	: १६वी शताब्दी के मध्य तक
	६ उत्तराधुनिक मालवी	: २०वीं शताब्दी

: ३ :

'माच' (मंच)-साहित्य

'माच' मंच शब्द का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मंच बाँधने और उस पर अभिनीत किये जाने वाले 'ख्यालो' (खेलो) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'माच' प्रायः ग्राम अथवा नगर की बस्ती के खुले स्थान में ऊँची भूमि पर अथवा तख्त बिछाकर या उन्हें बाँधकर बनाये हुए मंच पर खेले जाते है। इनके लिए नेपथ्य अथवा रंगमंचीय आडम्बरो की आवश्यकता नहीं होती। अभिनेता मंच के निकट किसी स्थान में अपने वस्त्र बदलकर अभिनय के हेतु मंच पर आ जाते हैं। स्त्रियो का अभिनय पुरुष ही करते हैं। मंच की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि दर्शकगण कहीं से भी बैठकर सम्पूर्ण गति-विधि देख सकते है। वस्त्राभूषण अथवा अभिनय का महत्त्व इन माचो मे गौण विषय है। प्रधान वस्तु संगीत है। उसमे भी ऊँची आवाज मे भावाभिव्यक्ति के लिए गाये जाने वाले 'बोल' अधिक महत्त्व पाते हैं। श्रोतागण 'बोलो' अथवा पात्रो के संवादो के कौशल पर 'कई की है' (क्या कही है ?) कहकर झूम उठते हैं। 'बोल' की लयकारी के साथ ढोलक बजती है। एक विशेष आवेग के साथ ढोलकिया टेक पर थाप मारकर भावों के महत्त्वपूर्ण अंशों को उत्कर्ष प्रदान करता है। गाने वाला ठीक इस समय 'ढोलक तान फड़क्के' अथवा 'ढोलक सच्ची बाजे' पदान्त मे जोड़कर उच्चारण करता है। अतएव लोक-गीति-नाट्य[1] के

1. माचों को ग्राम-संगीत-नाट्य कहना उचित नहीं, क्योंकि जिन माचों का प्रचार मालवा में है उनका निर्माण नगर विशेष में हुआ है।

लिए जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सभी माच में निहित हैं। लोक-गीतों की हृदय-स्पर्शी शब्द-योजना, गीति-तत्त्व और नाट्य का लोक-रंजन-कारी स्वरूप तीनो का समावेश इन माचों मे है। मैथिल के 'कीर्तनियाँ' नाटक की तरह माचों मे भी संगीत की प्रधानता है। संगीत की विशेष टेक-निक को व्यक्त करने के लिए माच मे छोटी रंगत, रंगत इकहरी, रंगत दोहरी, रंगत झेला की, रंगत सिदूरी, रंगत बड़ी या रंगत दादरा की आदि शब्दो का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार संवाद के लिए 'बोल' और उत्तर के लिए 'जुवाब' का प्रयोग माच की अनेक पोथियो मे हुआ है।

माच रात्रि के मध्य मे आरम्भ होकर सूरज की प्रथम किरण के साथ समाप्त होते हैं। प्रकाश के लिए पहले मशालो अथवा कन्दीलो का प्रयोग किया जाता था, किन्तु आजकल गैसबत्ती या शहर मे बिजली का प्रकाश साधारण बात हो गई है। हारमोनियम भी ढोलक का साथ देने लगा है, जिसमे वह कभी-कभी धम्मन का फूट जाना गौरव का विषय समझा जाता है।

माच के प्रवर्त्तक

बालमुकुन्द गुरु—प्रचलित माच के आदिप्रवर्त्तक उज्जैन-निवासी श्री बालमुकुन्द •रु हैं। किवदन्तियो के अनुसार गुरु बालमुकुन्द उज्जैन के भागसीपुरे मे 'ख्याल' (खेल) देखने जाया करते थे। उन दिनो नगर का आकर्षण इन्ही ख्यालों मे केन्द्रित हो रहा था। एक दिन भीड अधिक होने के कारण उत्सुकतावश वे मंच के एक छोर पर जा बैठे, पर कुछ कार्य-कर्ताओं ने उन्हे अपमानित करके वहाँ से उठा दिया। उन्हे यह बात बहुत बुरी लगी। आवेश मे आकर उन्होने नगर के रुद्र सागर मे बटुक भेरू की इष्ट साधना की, जिसका मन्त्र उन्होने सुखराम नामक यती से प्राप्त किया था। साधना से प्रसन्न होकर भेरू ने दर्शन दिये। उन्होने छन्द और काव्य के ज्ञान का वरदान माँगा। **'सरसत हिरदे आई'** (सरस्वती हृदय मे आई) और गुरुजी ने माच रचना आरम्भ किया। इस किवदन्ती से यह प्रकट है कि बालमुकुन्द गुरु के पूर्व अपने ग्रामीण रूप मे मालवा मे लोक-रंगमंच

मौजूद था, जिससे प्रेरणा प्राप्त करके गुरु की प्रतिभा ने नया स्वरूप प्रकाशित किया। मुसलमानी शासन के पूर्व ऐसे मंचों से सम्बन्धित किसी सूत्रबद्ध सामग्री के अभाववश इस विषय में प्रकाश डालना-मात्र अनुमानगम्य है।

१९वीं शताब्दी के द्वितीय-तृतीय चरण हिन्दी के रीतिकालीन पतनोन्मुखी समय के सूचक हैं। राज-दरबारो की विलासिता भक्ति पर हावी होकर अपने विशुद्ध शृङ्गारी रूप मे व्यक्त हो रही थी। लोगो में राजनीतिक और सामाजिक चेतना का उत्स रुका हुआ था। आर्थिक कठिनाइयॉ नही थी, यद्यपि यन्त्रो का प्रभाव आरम्भ हो गया था। लोग खाते-पीते थे। वैचारिक संघर्ष के अभाव मे वे खाने-कमाने, मौज करने और जीवन के अन्तिम काल मे थोडा-बहुत भगवत्-चिन्तन कर लेने में ही जीवन की इति-श्री समझते थे। मालवा प्रारम्भ से ही उपजाऊ रहा है, अतः यहाँ की भूमि से जाग्रति और भी दूर थी। इसी समय मालवी के माध्यम से मालवी जनता के मनोरंजन के लिए बालमुकुन्द गुरु ने माच का प्रवर्त्तन किया। धर्मक्षेत्र उज्जयिनी मे जिन कथाओ और पौराणिक गाथाओ का प्रचलन था उन्हे गुरु ने अपना लिया। भक्ति, वैराग्य, वेदान्त, शृङ्गार और पौरुषेय भावनाओं का लोक-ग्राही स्वरूप उनकी रचनाओ मे व्यक्त हुआ। प्रारम्भ में जिन पाँच खेलो को उन्होने लिखा, सबमे उन्होने 'निर्गुणी' कथी है अर्थात् उनकी पृष्ठभूमि निर्गुणी कथावस्तु से सम्बन्धित है।

रचनाएँ—गुरु बालमुकुन्द ने कुल १६ माचो की रचना की है, जो क्रमशः खेले जाते रहे हैं। स्वयं गुरु जी प्रत्येक माच में मुख्य पात्र का अभिनय करते थे और गोविन्दा ढोलकिया उनका साथ देता था। उनकी सब रचनाओं की मूल प्रतियॉ गुरु जी की वर्तमान चौथी पीढ़ी के पास आज भी सुरक्षित हैं, जिनसे रचनाओं का काल और कतिपय अन्य बातें ज्ञात होती हैं। वर्तमान पीढ़ी, जो उज्जैन ही में गुरु जी के उसी मकान में (जैसिंहपुरा) रहती है, उनके माचों को प्रतिवर्ष अभिनीत करके लोक-नाट्य की परम्परा को थामे हुए है।

छापेखानों के खुलते ही गुरुजी के माचों की मुद्रित प्रतियाँ बाजार में

आ गई। यह बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक के पश्चात् ही सम्भव हुआ। यद्यपि उज्जयिनी मे माच के खेलों की प्रतियाँ सम्वत् १६८२ के लगभग छपकर प्रकाशित हुई, पर इसके पूर्व इन्दौर के किसी छापेखाने से इन्ही माचों की पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी थीं। उज्जयिनी के दयाशंकर शालिग्राम बुकसेलर ने गुरु बालमुकुन्द के माच अलग-अलग २० × ३० के साइज मे पुस्तकाकार छापे है। 'राजा हरिश्चन्द्र' (जो पुस्तकाकार सम्वत् १६८२ मे प्रथम बार छपा) के अन्तिम पृष्ठ पर प्रकाशक ने लिखा है : "अगर हो कि जो खेल पहिले छपे थे उसपे से इन्दौर वाले ने खेल छपाये सो वह खेल बेमतलब हैं। कड़ी से कड़ी नहीं मिलती, काफिरबन्दी से गलत कडी टूट है किधर का हाथ, किधर का पाँव, किधर का धड, किधर का मुँह लगाकर पूरा खेल ऐसा नाम धरके लोगों को धोखा देनें वास्ते छपाया है।......."

इससे प्रकट होता है कि सम्वत् १६८२ के पूर्व शालिग्राम बुकसेलर ने भी माच की कुछ पुस्तकें छापी थीं। माच के अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण ही इन्दौर का कोई बुकसेलर उन्हे छापकर बेचने का लोभ संवरण नहीं कर सका। 'नागजी दूदजी' की तो उक्त सम्वत् मे तीसरी आवृत्ति प्रकाशित हो गई थी। उसमे भी उक्त सूचना छपी है। आजकल बालमुकुन्दजी के माचों की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनकी सूची सम्वत् एवं आवृत्ति-क्रम से नीचे दी जा रही है—

१. राजा हरिश्चन्द्र (प्रथम आवृत्ति सम्वत् १६८२), २. नागजी दूदजी (तृतीय आवृत्ति सम्वत् १६८२), ३. सेठ सेठानी (छठी आवृत्ति सम्वत् २००७), ४. ढोला मारूणी (छठी आवृत्ति सम्वत् १६८५), ५. देवर भौजाई (दसवी आवृत्ति सम्वत् २००६), ६. सुबबुद सालंगा (दसवी आवृत्ति सम्वत् २००६), ७. राजा भरथरी (दसवी आवृत्ति सम्वत् २००६), ८. नकल गेदापरी (प्रथम आवृत्ति सम्वत् १६६०), ६. कुँवर खेमसिह (प्रथम आवृत्ति सम्वत् १६८२), १०. रामलीला (प्रथम आवृत्ति सम्वत् १६८२), ११. कृष्णलीला (अप्रकाशित), १२. खेल रावत (अप्रकाशित),

१३. चारण बंजारा (अप्रकाशित), १४. हीर रॉझा (अप्रकाशित), १५. शिव लीला (अप्रकाशित), १६. बेताल पच्चीसी (अप्रकाशित) ।

गुरु बालमुकुन्द जी ने सभी माच के खेलो को अपने ही मोहल्ले, जैसिंहपुरा मे समय-समय पर खेला । जैसिंहपुरा के माच का स्थान भेरू के मन्दिर के सामने है, जिसकी स्वयं गुरु ने स्थापना की थी । इसका उल्लेख प्रत्येक माच के प्रारम्भ मे दी गई 'भेरू जी की स्तुति'[1] में किया गया है । जैसिंहपुरा माचो के कारण गुरु जी के समय एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था । यद्यपि जयसिंह द्वारा बसाये जाने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से उस स्थान का महत्त्व अब भी कम नही है । माच के आकर्षण से दर्शको की बड़ी भीड वहाँ खिची चली आती थी । अपने एक पात्र द्वारा स्वयं गुरुजी ने इस बात का उल्लेख किया है :

"भोपाल सेर से चलकर आयो, उज्जन सेर देखूँगा बस्ती ।
जैसिंहपुरा में माँच बन्यां है, मुलकों की आलम वाँ ठसती ॥"[2]

गुरु बालमुकुन्द के जीवन-काल में माच का प्रचार दूर-दूर तक हो गया था । उनकी मूल प्रतियां से नकल उतारकर उन्हीके शिष्य गाँव-गाँव मे फैल गए । अत्युक्ति न समझी जाय तो यह परम्परा पंजाब और हाथरस तक मे पहुँची । गुरुजी के समकालीन सिंधिया-नरेश ने तो उन्हे निमन्त्रित करके ग्वालियर मे माच करवाये थे और निकटवर्ती होल्कर-नरेश ने माचों से प्रभावित होकर गुरु जी को बहुत-सी जमीन दान मे दी थी ।

गुरु बालमुकुन्द की मृत्यु सम्वत् १९३२ मे रविवार के दिन हुई । कहते है उस समय वे 'गेदापरी' माच का अभिनय कर रहे थे । अन्ध-

---

१. **रंगीला हे भेरव का ध्यान, सारदा दो हिरदा में ग्यान ॥टेक॥**
बिसाल रूप छोटी-सी मूरत, करो दुस्मन की हान ।
जेसिंगपुरा में राज तुमारा और चारा खूँट में मान ॥
कालो गोरो मालक मेरो, खेल रच्या चोगान ।
साँचे को सन्मान जो देवे, मार दुष्ट कू बान ॥टेक॥

२. **'हरिश्चन्द्र', पृष्ठ ५ ।**

विश्वासी लोग गेंदापरी को ही गुरु की मृत्यु का कारण समझते हैं। मंच से उठाकर ही गुरु का शव चक्रतीर्थ ले जाया गया। शव जब चला तो उसके आगे-आगे उनके शिष्य माच गाते चले। माच के ही संगीत से उसके शव का अग्नि-संस्कार किया गया। माच की प्रसिद्धि और माचकार के सम्मान का इससे बडा उदाहरण क्या हो सकता है!

बालमुकुन्द गुरु मालव-शैली के चित्रकार भी थे। कुछ चित्र उनके वंशजों के पास सुरक्षित हैं। उनका कण्ठ खुला और प्रभावशाली था। अभिनय के समय उनकी वाणी और व्यक्तित्व लोगों के हृदय को प्रभावित करने मे बेजोड़ थे। गुरु ने सम्वत् १६०१ के पश्चात् माच लिखना आरम्भ किया, जो क्रम मृत्यु-पर्यन्त चलता रहा। माच के पुनरुद्धारक और नवीन शैली के प्रवर्त्तक के रूप मे गुरु की साधना सदैव सम्माननीय रहेगी। उनके वंश-वृक्ष का आगामी प्रसार परिशिष्ट मे दिया गया है।

कालूराम उस्ताद--बालमुकुन्द गुरु के माचो की लोकप्रियता ने उज्जैन के प्रतिभाशाली कवि कालूराम उस्ताद को कुछ वर्षों पश्चात् नवीन रचनाओं के सृजनार्थ प्रेरणा दी। यह प्रेरणा वस्तुतः गुरु बालमुकुन्द जी की दूसरी पीढ़ी के साथ स्पर्धा के रूप मे विकसित हुई। गुरु के काफी बाद मे होकर भी अपनी प्रतिभा और परिश्रम के आधार पर कालूराम उस्ताद ने गुरु की ही भाँति दौलतगंज (उज्जैन) में अपना अखाड़ा बना लिया। उनके लिखे हुए माचो के नाम हैं—१. प्रह्लाद लीला, २. हरिश्चन्द्र, ३. रामलीला, ४. चित्र मुकुट*, ५. मधुमालती*, ६. चन्द्रकला, ७. हीर-राँझा, ८. निहालदे सुल्तान, ६. जान आलम*, १०. नागवती*, ११. राजा छोगरतन*, १२. सूरजकरण, चन्द्रकला*, १३. ढोल सुल्तानी, १४. राजा रिसालू, १५. इन्द्रसभा, १६. छबीली भटियारिन, १७. त्रिया-चरित्र और १८. हीरा मोती।

उक्त माचो का प्रचार गुरु बालमुकुन्द की रचनाओ के साथ होता गया। सभी रचनाएँ सम्वत् १६५० के पश्चात् आगामी २५ वर्षों के बीच

---

* सब प्रकाशित।

लिखी गई प्रतीत होती हैं। कहते हैं उस्ताद को कुछ और भी रचनाएँ हैं, जो अधूरी हैं। कालूराम जी के माचों के प्रचार का कारण यह भी था कि उन्होने प्रथम बार बाबाजन[1] नामक एक सुन्दर गायिका को मंच पर उतारा। बाबाजन अपनी सुस्पष्ट ऊँची और मधुर आवाज के लिए प्रख्यात रही है। इस प्रकार कालूराम उस्ताद ने बालमुकुन्द गुरु की उस परम्परा को, जो स्त्री-पात्र को मंच के लिए वर्ज्य समझती थी, तोडकर नया आकर्षण आयोजित करने मे सफलता प्राप्त की।

कालूराम उस्ताद के और बालमुकुन्द गुरु के अधिकाश माचो की कथा-वस्तु मे विशेष भेद नही है। गुरु की अपेक्षा उस्ताद की रचनाएँ शृङ्गारी अधिक है। गुरु और उस्ताद मे जो भेद है वही भेद रचनाओ की प्रवृत्तियो मे लक्षित होता है।

कालूराम उस्ताद और बालमुकुन्द गुरु के दोनो अखाड़े आज तक ग्रामीण जनता और नगर के लोगो के लिए मनोरंजन के विषय बने हुए है। दोनो के बीच स्पर्धा-सम्बन्धी अनेक कथाएँ लोगो मे प्रचलित हैं। यह स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि एक-दूसरे के मंच से खेलो के बीच-बीच मे पद्यबद्ध फब्तियाँ कसी जाने लगी। यथा :

कालूराम का काला मूँडा, गन्दे नाले न्हावे।
बालमुकुन्द की होड़ करे तो नरक कुण्ड में जावे॥

इतना ही नही उस्ताद के क्षेत्र के कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्ति भी इस चपेट से बचे नही :

दौलतगंज को कहूँ हकीकत (अमुक) खत्री वाला।
बाप करे गल्ले का सौदा, बेटे करे छीनाला॥

---

1. बाबाजन का ८४ वर्ष की अवस्था में सन् १९४८ की १५ जनवरी को देहावसान हुआ। दिल्ली की एक रेकार्ड-कम्पनी ने उसके चार रेकार्ड तैयार किये थे, जो कालूराम जी के पुत्र शालिग्रामजी के पास हैं। बाबाजन मर्दाने वस्त्र धारण करती थी और सिर पर साफा बाँधती थी।

उस्ताद के प्रमुख साथियो मे सुकदेव और पन्नालाल लावनीबाज मे काव्य-प्रतिभा थी, उनकी अनेक कविताएँ संवत् १९६६ के सिंहस्थ मे छप-कर काफी प्रसिद्ध हुईं, यद्यपि उनमे तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता का प्रभाव स्पष्ट है। जिसका कालूराम उस्ताद की रचनाओ मे अभाव है।

कालूरामजी का उपनाम 'दुर्बल' था। आपमे अभिनय की प्रतिभा न थी। केवल रचनाकार के नाते ही अपनी परम्परा चलाने मे आप सफल हुए। लगभग ४० वर्ष की अवस्था मे आपकी मृत्यु हुई।

अन्य परम्पराएँ

एक तीसरी परम्परा उज्जैन के मालियो मे और है, जिसके प्रवर्त्तक राधाकिशन गुरु कहे जाते हैं। राधाकिशन गुरु के केवल ५ खेल हैं, जिनका आधार उक्त दोनो परम्पराओ की रचनाएँ हैं। वही धज, वही शैली और वही टेकनीक। इस बीच मालवा-स्थित गूजर गौड़ो ने भी अपनी माच-परम्परा चलानी चाही थी, पर वह चली नहीं। राधाकिशन गुरु की परम्परा मे सिद्धू नाई नया माचकार है। उसकी कुछ रचनाएँ गत वर्ष ही उज्जैन मे खेली गईं। गुरु बालमुकुन्द और कालूराम उस्ताद की परम्पराओ मे पुराने माच ही खेले जाते हैं। नये माचकारों मे नीमच के ख्यालकार रामजीलाल बन्धु, लालजी नन्दराम, मुडवे वाले रामरतन दरक आदि के कुछ खेल छपे हैं, पर वे विशेष ख्याति प्राप्त न कर सके।

मालवी का नया-पुराना माच-साहित्य कुल मिलाकर मालवा की जन-रुचि का द्योतक है। यद्यपि इन माचों की प्रवृत्ति शृङ्गारी ही है तथापि शिक्षा के अभाव में लिखे गए स्थानीय भाषा के इस साहित्य को इसलिए महत्त्व देना चाहिए कि यह पिछले डेढ़ सौ वर्षों से लगभग ६०-७० लाख मालवी जनता को प्रभावित करने में सफल हुआ है। पौराणिक कथाओ के अतिरिक्त अन्य माच-कथाएँ किंवदन्तियो पर आधारित हैं तथा उनमें प्रेमाश्रयी शाखा का स्पष्ट प्रभाव है। गीति-तत्त्व लोक-गीतो से प्रभावित है।

कही-कहीं तो लोक-गीतो की पंक्तियाँ ज्यों-की-त्यों अपना ली गई हैं।

माच खुले रंगमंच का ही स्वरूप है। रामलीला, नौटंकी, ख्याल, यात्रा, भवाई, कीर्तनिया आदि विभिन्न लोक-नाट्य-शैलियो में माच का भी अपना विशिष्ट स्थान है। इसमे नेपथ्य आदि के बिना सभी प्रकार के दृश्यो का आयोजन लोक-कल्पना के विषय है। अभिनेता ढोलक और अपनी ऊँची आवाज के सहारे मंच पर अपनी कला का कौशल दिखाते है। माच की कथा का सूत्र भंग न हो इसके लिए गद्य का प्रयोग कम-से-कम किया जाता है। संगीत सूत्र को सँभाले रहता है। इसलिए ढोलक का अस्तित्व माच का प्राण है।

माच के विषय मे श्री त्रिभुवननाथ दवे वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन कर रहे है।

सन्त-साहित्य

मालवी का सन्त-साहित्य धार्मिक आन्दोलनो से प्रभावित रहा है। किन्तु ऐसा कितना ही साहित्य लुप्त हो चुका है, और जो है उसका यथोचित उद्धार किया जाना शेष है। पोथियो के रूप मे सुरक्षित सामग्री घरो, मन्दिरो और मठो मे दबी पड़ी है। अतः किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व हमे उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही स्थूल रूप से विचार करना होगा।

मालवी का सन्त-साहित्य 'पन्थी' है, उस पर विभिन्न धार्मिक मत-मतान्तरो की छाया और उससे उत्पन्न पन्थो की छाप है। जो साहित्य लिपिबद्ध है—आशिक रूप से लिखित और आंशिक रूप से मुद्रित है—उसकी सगत तो बैठ जाती है, पर अलिखित—मौखिक—भजनी साहित्य का वर्गीकरण किञ्चित् क्लिष्ट विषय है। जिस साहित्य का उल्लेख आगे किया जा रहा है वह गेय है। अतः पद्य का अंग ही मालवी मे सन्त-साहित्य की दृष्टि से अभी तक ज्ञात हुआ है। सन्त-साहित्य की प्राप्य सामग्री का वर्गीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है :

- सन्त-साहित्य
  - पन्थी (निर्गुणी)
    - रचित
    - लोक-प्रचलित
  - भजनी (सगुणी)
    - रचित
    - लोक-प्रचलित

निर्गुणी-रचित साहित्य के अन्तर्गत 'गोरख वाणी', बाबा हरिदास के पद तथा गुप्तानन्द महाराज, केशवानन्द एवं नित्यानन्द महाराज की स्फुट रचनाओं को स्थान दिया जा सकता है। लोक-प्रचलित निर्गुणी साहित्य लोक-साहित्य ही है। इसमे 'रामदेवजो', 'कबीरा', 'गोरख', 'भरथरी-बेराग' आदि लोक-गीत एवं भाटी हरजी, अणदासोनी, भाऊदास, सुखराम आदि की छाप वाले रामदेव, कबीरा आदि पद मालवी मे विशेप स्थान पाते है। यद्यपि सामग्री के अभाव मे इतनी सामग्री से ही सन्तोष करना पड़ता है तथापि निर्गुणी-साहित्य की खोज की जाने पर अमूल्य ग्रन्थो के उपलब्ध होने की सम्भावना है।

सगुणी साहित्य भजनी है। प्रायः भजन के रूप से कीर्तन अथवा धार्मिक आयोजनो का वह विषय है। इसमे रचित 'मालवी रामायण', (श्रीनारायण व्यास), 'लक्ष्मीकान्त पदावली' (स्वामी दीनानाथ) एवं कुछ अन्य फुटकर ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

लोक-प्रचलित सगुणी साहित्य मे चन्द्रसखी और सन्त सिगा के गीत दूर-दूर तक प्रचलित है।

गोरखनाथजी को ग्यान—'गोरखनाथ जी को ग्यान' ४८ दोहो की छोटी-सी प्रति है, जो उज्जैन से ही मिली है। इस प्रति मे लेखन-काल एवं लिखने वाले का नाम नहीं है। केवल किसी नाथ द्वारा लिखे जाने का अनुमान 'नाथ कहै' के निरन्तर प्रयोग से पुष्ट होता है। पुस्तिका की लिखावट लगभग डेड सौ वर्ष पूर्व की प्रतीत होती है। कुछ दोहे उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं, जिनकी मालवी ब्रज से प्रभावित है, जो सम्भवतः भक्ति-आन्दोलन के प्रभाववश एक प्रवृत्ति रही है :

काटे सेती काँटा निकसे, कुञ्जी सेती ताला।
सिध ही तै सिध पाइए, तब घटि होइ उजियाला॥

सर्प रहे बम्बी उठि नाचै, करबिन डैरूँ बाजै।
नाथ कहे जो योपष जीतै, षंड पढ़ै तो सतगुर लाजै।

बाबा हरिदास—बाबा हरिदास अवन्तिका के समीप किसी मठ में

रहा करते थे। उनका साहित्य हाल ही मे उज्जैन की 'ओरिएण्टल लाइब्रेरी' मे आया है। कुछ प्रतियाँ उनके शिष्यो के पास भी मिल जाती है। बाबाजी ने प्रायः दोहे लिखे हैं। निर्गुणी धारा की समस्त पदावली का प्रयोग उनकी रचनाओ मे हुआ है। प्राप्त सामग्री अभी सम्पादनाधीन है, अतः उदाहरण स्वरूप कोई दोहा अथवा पद यहाँ प्रस्तुत नही किया जा सकता। बाबाजी के जन्म एवं रचना-सम्बन्धी अन्य जानकारी अभी प्रकाश मे आनी शेष है।

गुप्तानन्द महाराज—गुप्तानन्द महाराज-कृत 'चौदह रत्न', 'गुप्त सागर तथा गुप्त ज्ञान गुटका' नामक संयुक्त ग्रन्थ की तृतीय आवृत्ति सम्वत् १९९३ मे हुई। इसमे ३७४ गेय पद है।

गुप्तानन्दजी मन्दसौर (उत्तरी मालवा) के विष्णुपुरी नामक स्थान मे सम्वत् १९७९ मे समाधिस्थ हुए। उक्त पुस्तक प्रथम बार सम्वत् १९७८ मे इन्दौर मे प्रकाशित हुई। गुप्तानन्दजी के सम्बन्ध मे अनेक किवदन्तियाँ प्रसिद्ध है।

'चौदह रत्न' और 'गुप्त सागर' खडी बोली, ब्रज और मालवी-मिश्रित सधुक्कडी भाषा मे है। 'गुप्त ज्ञान गुटका' दोहा, लावनी और शैरो मे लिखा गया है। पूरी पुस्तक मे ख्याल, कविता, खडी चाल, कव्वाली, होली, कुण्डलिया, झूला, त्रोटक आदि सभी पद्धतियों का प्रयोग किया गया है। विषय निर्गुणी है, किन्तु सगुणी भक्ति का प्रभाव भी साथ-साथ चलता है। विचारो मे प्राचीन कवियो की भावनाओ और प्रचलित पदावलियो की पुनरावृत्ति स्वभावतः होती गई है। उदाहरणार्थ कबीर के भावो से अतिरंजित निम्न लावनी देखिए :

लावनी (चाल दून)

सजि चलो सुहागिन साज आज घर पीके।
अजी एजी, पिया को बेगि बुलाई है।
चलना पड़े जरूर सवारी सजके आई है ॥टेक॥
खड़े वारि खड़े जनिहार त्यार अब होले।

अजी एजी, जरा अब आखियाँ तो खोलो ॥
कर प्रीतम घर की सुर्त शब्द कुछ मुख सेती बोलो ॥[1]

'अजी एजी' का प्रयोग गुप्तानन्द जी के लिए स्वाभाविक हो गया है। उनके कुछ पदों में मालवी का प्रयत्न गत स्वरूप देखिए :

बँगला खूब समारया है, चतुर कारीगर करतारा ॥ टेक ॥
पाँच रंग की ईंट लगी है, सात धातु का गारा।
बिन औजार साल सब फोड़े, नखसिख लाग्या प्यारा ॥१॥
निज माया का कोट रच्या है, नाना रंग अपारा।
घाट बाट चौगट्टे गलियाँ, बिच में लगे बजारा ॥२॥
इस बँगले में बाग लगया है, मन माली रखवारा।
साड़े तीन करोड़ वृक्ष हैं, खिल रही अजब बहारा ॥३॥
किरोड बहत्तर नदियाँ बहतीं, छूटी रही जल-धारा।
अन्तःकरण अगाध सरोवर, वृत्ती छुटै फुहारा ॥४॥
इस बँगले में रास रच्या है, नाना राग उचारा।
अनहद शब्द होत दिन राती, सोहम् सोहम् सारा ॥५॥
इस बँगले में बाजे बाजै उठ रही झंकारा।
ढोलक झाँझ बजे हरिमुनिया, खिंच रही स्वास सितारा ॥६॥
बाजे तीन बजाय रहे हैं, स्वर अरु ताल निकारा।
पाँच पचीसो पातर नाचे, देखत देखन हारा ॥७॥
तीन लोक बँगले के अन्दर, नाना जगत अपारा।
गुप्त रूप से आप बिराजे, सबका जानन हारा ॥८॥[2]

भजन

जिन जान्या अपने आपको, सो निर्भय होके सोवे ॥टेक॥
हिरदे की ग्रंथी जिन तोड़ी, संसों की सब मटुकी फोड़ी।

१. 'गुप्तज्ञान गुटका', पृष्ठ १८०।
२. वही, पृष्ठ २२४।

विधि निषेध की उठि गई जोडी, फिर जपै कौन के जाप को॥
करमन में कैसे रोवे··· ॥१॥ इत्यादि ।[1]

केशवानन्द जी महाराज—गुप्तानन्द जी के शिष्य केशवानन्द जी की रचनाएँ 'तत्त्वज्ञान गुटका' मे संग्रहीत हैं, जिसका प्रकाशन प्रथम बार भुवनेश्वरी प्रेस रतलाम से सं० १९८२ में हुआ। यह ग्रन्थ आत्म-ज्ञान-सम्बन्धी १३४ निर्गुणी गेय पदों का संकलन है। अपने गुरु की भाँति आपने भी राग-रागनियो मे अपने भाव निबद्ध किये हैं। आपके विशेष प्रिय छन्द गजल एवं कव्वाली हैं; पर कुण्डलियाँ, दोहे, कवित्त एवं लोक-छन्द माड़, वधावा आदि का प्रयोग भी आपने किया है।

'तत्त्वज्ञान गुटका' की भाषा उत्तरी मालवी है, क्योंकि रचयिता का कार्य-क्षेत्र प्रायः मन्दसौर और प्रतापगढ की ओर ही रहा। एक पद देखिए :

जोगिया

राम नाम कह मैना, तू तो लख गुरु मुख की सेना ॥टेक॥
माया पारधी फंद लगायो, लाला फल धरेना।
लालच के बस तू जाइ बेठी, फँस गये दोऊ डैना ॥१॥
बँधे-बँधे में मैना बोले, अब गुरु मोहि छोड़ेना।
अब की बेर छुड़ा मोहि देना, मानूँगी आप कहेना ॥२॥
रामनाम से फंद छुड़ाये, ज्ञान विराग दोऊ देना।
उड़ी फंद से शरण में आई, गुरुजी के चरण गहेना ॥३॥
निरभय होके ब्रह्म पिछाना, मिटि गये काल के ताना।
केशवानन्द आनन्द कन्द मिल जग में अबना बहेना ॥४॥[2]

नित्यानन्द जी महाराज नित्यानन्द जी-कृत 'नित्यानन्द विलास' की प्रथमावृत्ति रतलाम ही से प्रकाशित हुई थी। तृतीय आवृत्ति सम्वत् १९९४ मे छपी। नित्यानन्द की रचनाओ को संग्रहीत करने का श्रेय

१. 'गुप्तज्ञान गुटका', पृष्ठ २५७।
२. 'तत्त्वज्ञान गुटका', पृष्ठ ४८३।

स्व० कन्हैयालाल जी उपाध्याय (रतलाम) को है। नित्यानन्द जी के पदों का प्रचार मालवा के बाहर गुजरात में भी है। तृतीयावृत्ति में 'नित्यानन्द विलास' के साथ कुछ छोटे-मोटे ग्रन्थ भी जोड दिए गए हैं, जिनमे 'गुरु गीता', 'प्रश्नोत्तरी', 'जननी सुत उपदेश', 'आप जी का उपदेश', 'श्रीराम विनोद', 'वार्त्ता प्रसंग' आदि है। महत्त्व का अंश (मालवी की दृष्टि से) 'नित्यानन्द विलास' ही है। इसमे राग-रागनियो मे गुम्फित वेदान्ती पदों का संग्रह कर दिया गया है। यद्यपि अनेक पद सधुक्कडी मालवी मे है, पर कुछ खड़ी बोली, उर्दू और ब्रज-मिश्रित मे भी हैं। मालवी पदो मे गुजराती और राजस्थानी का प्रभाव है। तत्त्व-ज्ञान, वेदान्त और निर्गुणी कथी का प्रभाव सभी पदो मे है। नित्यानन्द के समक्ष सन्त-साहित्य का अपार भण्डार था, किन्तु विशेष रूप से उन पर निर्गुणी धारा का प्रभाव रहा। मालवी के कुछ पदो की बानगी लीजिए :

राग सोरठ मल्हार

मन म्हारो, कोई नहीं हितकारी।
तू नित बंड करे बंडाई, होय दुर्गति म्हारी ॥टेक॥
देख खोल चक्षु तूँ दोनूँ, कौन वस्तु है म्हारी।
सबहि विभूति है श्रीहरि की तूँ कहे म्हारी-म्हारी ॥[1]

राग दादरा

पंखा लेके गुरु जी में तो हाजर खडी ॥टेक॥
लख चौरासी ढूँढ थकी गुरु, अब चरनन में आय पडी।
देख दया की अबे दृष्टि से, सुमर रही में तो घडी जी घड़ी
अब हटने की नहिं डोढ़ि से, निर्भय होके में तो आय अड़ी
हर गुरु दुख सकल तन-मन को, नित्यानन्द निज देदोजी जडी ॥[2]

१. 'नित्यानन्द विलास', पृष्ठ १०१।
२. वही, पृष्ठ १५६।

लोक-प्रचलित निर्गुणी साहित्य खोज का विषय है। कबीर एवं लोक-प्रचलित ऐसे साहित्य के अन्योन्याश्रित प्रभाव का उल्लेख परिशिष्ट मे किया गया है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : "कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनका साहित्य तो उपलब्ध नहीं है, पर परम्परा अभी बची हुई है। नाथ मार्ग के बारह पन्थो में से प्रायः सभी जीवित हैं; पर जहाँ तक मालूम है एक-दो को छोड़कर बाकी का कोई साहित्य नहीं बचा है। इन सम्प्रदायों के साधुओं और गृहस्थों में अपने प्रतिष्ठाता के सम्बन्ध में कुछ कथाएँ बची हुई हैं। किसी-किसी के स्थापित मठ और मन्दिर वर्तमान हैं, उनमे कुछ विशेष ढंग के अनुष्ठान होते हैं। इन लोक-कथाओं और अनुष्ठानों के भीतर से इन सम्प्रदायों की विशेषता का कुछ-कुछ पता चलता है—"[1]

"दक्षिण भारत की लोक-भाषा में लिखे हुए भक्ति-मूलक ग्रन्थ आगे चलकर जबरदस्त दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायो की स्थापना के कारण हुए हैं। इस तथ्य से यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि अन्यान्य धर्म-सम्प्रदायों और साधन-मार्गो के विकास में लोक-भाषा का भी हाथ रहा होगा।"[2]

उक्त दृष्टि से हम देखें तो निश्चय ही लोक-प्रचलित साहित्य से कितने ही लुप्त सम्प्रदायो की कड़ियाँ जुड सकती है। कबीर के पश्चात् कबीर के नाम से अनेक पन्थ चले, जिनका पता 'कबीरा' लोक-गीतों से मिलता है। 'रामदेव' के गीत रामदेव की अनुश्रुति के अंग है। जो रामदेव के इतिहास-परक अंश को प्रकाश मे लाने के लिए आमन्त्रित करते है। भाटी हरजी, भाऊदास आदि रामदेव के परम भक्त मालवा में हो गए हैं, जो कबीर की भाँति निम्न वर्ग से आये। यो निर्गुणी साहित्य का अधिकाश भाग निम्न जातियो के पास ही है, जिसमे बलाई, चमार, भाभी आदि मुख्य हैं। डॉ० अम्बेदकर का यह सिद्धान्त है कि बौद्धो के प्रति घोर विरोधी वातावरण ने

१. 'मध्यकालीन धर्म साधना', धर्म साधना का साहित्य, पृष्ठ १२।
२. वही, वेद विरोधी स्वर, पृष्ठ १८।

अन्त्यजो को जन्म दिया। यदि विकारी बौद्ध-धर्म से निर्गुणी धारा का हम सम्बन्ध जोडते हैं तो हमारे लिए निम्न जातियो के कण्ठो पर अवस्थित यह निर्गुणी साहित्य उपादेय होगा।

चन्द्रसखी—चन्द्रसखी मध्य भारत के मालवी और राजस्थानी भाषा-भाषी-क्षेत्र की लोक-गायिका अथवा कृष्णाश्रयी शाखा की लोक-भजनकार है। गाँवों मे जिसके गीतो को 'भजन' संज्ञा प्राप्त है, उन्हे ही नगरो मे 'पद' कहा जाता है। चन्द्रसखी की छाप वाले सैकडों ही गीत नगर और ग्राम की स्त्रियो को समान रूप से कण्ठस्थ हैं। इतना ही नही चन्द्रसखी के गीत अथवा भजन विभिन्न राग-रागनियो मे आबद्ध होकर वर्षों से संगीतज्ञो के कण्ठों पर परम्परा से अवस्थित है। इससे उक्त गायिका की लोकप्रियता ही प्रमाणित होती है।

चन्द्रसखी-सम्बन्धी एक विवाद इन दिनो उपस्थित हुआ है। राजस्थान के विद्वान् अन्वेषक श्री मोतीलाल मेनारिया उसे मालवी की कवयित्री घोषित करते हैं जब कि श्री अगरचन्द नाहटा यह मानने के लिए प्रस्तुत नही हैं। भाषा की दृष्टि से वर्णों की कोमला वृत्ति और मालवी का सारल्य, शैली आदि इस बात को पुष्ट करते है कि चन्द्रसखी अधिक अंशो मे मालव-प्रदेश की ही गायिका अथवा भजनकार है। राजस्थान के सीमावर्ती भागो मे उसके भजनो के प्रचलन से यह समझ लेना उचित न होगा कि वह मूलतः राजस्थानी है। लोक-गायको अथवा गायिकाओ या भजनकारो के लिए प्रान्तों की सीमाएँ प्रायः टूट जाती है, फिर कण्ठो पर अवस्थित गीत-संगीत-सम्बन्धी सम्पत्ति सीमा के बन्धन स्वभावतः स्वीकार ही नही करती। हृदयस्थ भावों की सामान्य प्रवृत्ति इस प्रभाव मे योग देती है। अल्प प्रमाणो के होते हुए भी हमें यह स्वीकार करने मे आपत्ति नही होनी चाहिए कि कदाचित् चन्द्रसखी राजस्थान और मालवा के सन्धि-क्षेत्र के निकटवर्ती किसी स्थान की निवासिनी हो। उसके एक गीत मे मालवा को छोड़कर गोकुल जाने का भी उल्लेख आता है :

"छोड मालवो चन्द्रसखी
चल गोकुल जमना तीर।
कृष्ण चन्द्र की मुरली सुण
जाँ घटे मन की पीर।"

मालवा में दीपावली के दूसरे दिन गोवर्धन पूजा के अवसर पर 'चन्द्रावल' गाई जाती है, जिसमे कृष्ण-प्रेम का उल्लेख है। 'चन्द्रावली' वैसे कृष्ण की एक प्रेमिका के नाते लोक-वार्ता का एक सहज विषय है। सम्भवतः कृष्ण के प्रति सखी भाव को व्यक्त करने अथवा सखी रूप मे नैकट्य की कामना से किसी भक्त कवि द्वारा स्वीकृत यह 'चन्द्रसखी' उपनाम हो! अपने उपास्य के निकट प्रियतमा के रूप मे जाने का आत्मसुख प्रायः भक्त कवि प्राप्त करते रहे हैं। अतएव यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि चन्द्रसखी भक्त कवि का नाम है अथवा किसी स्त्री भक्त गायिका का। प्रचलित मान्यता के अनुसार उसे हम स्त्री भक्त ही मानेगे। जहाँ तक उसके स्थान का प्रश्न है उसे हम मालवा के उत्तरी क्षेत्र मे कहीं होना सम्भावित समझते है।

आज भी उत्तरी मालवा मे उसके गीत अधिक संख्या मे उपलब्ध है। उत्तरापथ के खानदानी गवैयो मे भी चन्द्रसखी के गीत प्रचलित है, जिससे हमारा विश्वास पुष्ट होता है। भाषा की दृष्टि से एवं उसके गीतो की प्रवृत्तियो से उक्त विश्वास को सहज ही सम्बल प्राप्त है। यद्यपि अभी तक चन्द्रसखी के गीतो की कोई प्राचीन प्रति प्राप्त नही हुई, तथापि लोक-प्रचलित गीतो से (कतिपय राजस्थानी प्रयोगो के होते हुए भी) यह प्रमाणित है कि चन्द्रसखी ने अपने पदो की रचना मालवी मे ही की थी।

'मारवाडी भजन सागर'[1] मे चन्द्रसखी के ५४ पद प्रकाशित हुए है। इसके अतिरिक्त नरोत्तमदास स्वामी तथा मनोहर शर्मा द्वारा संकलित पदो को मिलाकर श्री नाहटा जी के अनुसार 'चन्द्रसखी' के सौ से अधिक भजन प्रकाशित हो चुके हैं। मालवा मे श्री चिन्तामणि उपाध्याय ने लगभग

1. राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता, १९६०।

२५, एवं ग्राम राजोद की माध्यमिक शाला द्वारा ही चन्द्रसखी के लगभग इतने गीत लिपिबद्ध किये हैं। मालव-लोक-साहित्य-परिषद्, उज्जैन के पास ५० से अधिक गीत हैं। पच्चीस से अधिक गीत इन पंक्तियों के लेखक को देवास, शाजापुर और उज्जैन जिलों से मिले हैं। अनुमान है कि विभिन्न प्रयत्नों से संकलित सामग्री को यदि एक स्थान पर एकत्र कर लिया जाय तो तीन-चार सौ गीतों का बृहद् संग्रह हो जायगा। समान गीतों को हटाकर शेष गीतों के व्यवस्थित सम्पादन से चन्द्रसखी-सम्बन्धी अनेक बातें प्रकाश में आ सकेंगी।

चन्द्रसखी का काल—चन्द्रसखी का काल-निर्णय विवादास्पद है। श्री मेनारिया जी ने उसका समय लगभग १८८० बताया है। मिश्रबन्धुओं ने चन्द्रसखी नामक दो कवयित्रियों का उल्लेख करते हुए एक का समय १६३८ (ग्रन्थ 'सारोद्धव') और दूसरे का १६०० के पूर्व (ग्रन्थ 'स्फुट पद') बताया है। श्री अगरचन्द नाहटा चन्द्रसखी का समय संवत् १६७५ और १७२५ के बीच का मानते हैं। जैन-साहित्य के 'सतर्क संग्रह' को आधार मानकर आपका कथन है कि 'जैन गुर्जर कवियों' (भाग ३) में प्रयुक्त देशी ढालों में रचित कविताएँ लोक-गीतों की विभिन्न शैलियाँ उद्घाटित करती हैं। उक्त ग्रन्थ में २३२८ देशियों का उल्लेख किया गया है। उसमें चन्द्रसखी का एक भजन भी उद्धृत है, जो अनन्त नाथ भण्डार, बम्बई की एक स्तवन-संग्रह की प्रति से प्राप्त हुआ था। आपने लिखा है : "**न्याय सागर नामक जैन कवि ने अपने 'चतुर्विंशति जिन-स्तवन' के अन्तर्गत वासुपूज्य-स्तवन बनाया है, जो 'चौबीसी बीसी संग्रह' में प्रकाशित हो चुका है। यह स्तवन 'ब्रज मण्डल देख दिखाडो रसिया' की चाल में गाना चाहिए—इसका निर्देश कवि ने प्रारम्भ में किया है। इस कवि का जन्म सं० १७२८ में भीनमाल (श्री माल) नगर में हुआ था और सं० १७९७ में स्वर्गवास हुआ। इनकी रचनाएँ सं० १७६६ से सं० १९८४ तक की प्राप्त हैं। 'चौबीसी-स्तवन' इसी मध्यवर्ती काल में रचे गए हैं। अतः चन्द्रसखी के इस भजन का प्रचार सं० १७६६**

के आस-पास राजस्थान में अच्छा रहा है।"[1]

नाहटाजी उक्त प्रमाण के आधार पर चन्द्रसखी का सं० १७०० के आस-पास होना अधिक संभव मानते है।

चन्द्रसखी के भजन—चन्द्रसखी मुख्य रूप से कृष्णाश्रयी शाखा की गायिका है। राम-सम्बन्धी परम्परागत किंवदन्तियों के प्रसंग कवयित्री ने अधिक मात्रा में गाए हैं। श्रीकृष्ण मनिहार बनकर राधिका से मिलने आते है। कवयित्री ने सरल शब्दों मे इसका चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

श्रीकृष्णचन्द्र मणियार बने
बृसभान भवन में लाई चूड़ियाँ।
बिन्द्रावन की कुञ्ज गलिन में,
केत फिरे कोई पेरो चूड़ियाँ।
गोरा बदन राधेजी ठाड़े,
हमको पेरई दो हरि चूड़ियाँ।
अंगली पकड़ पोंचो पकड़्यो,
हँसु-हँसु मोड़ी मोरी गोरी बईयाँ॥

एक गीत मे राधिका को नाग ने डस लिया है। कृष्ण वैद्य बनकर उपचारार्थ उसके निकट जाते हैं। संयोग के लिए कितने ही प्रकरणों की कल्पना चन्द्रसखी के सरल भावों मे गुम्फित है। उसने उन्हीं प्रसंगो को अपनाया है जिनका जीवन से सम्बन्ध है। कल्पना वहाँ सत्य की अनुगामिनी है। उपलब्ध गीतों मे काव्यगत दोषों के लिए वह क्षम्य है। धुन में आवेष्टित एक पद देखिए :

(राग सारंग)

ब्रज मण्डल देस दिखावो रसिया।
ब्रज मण्डल को आछी नीको पाणी
गोरी गोरी नार सुघड़ रसिया॥१॥
अगर चन्दन को ढाल्यों बिराजे,
अवल रेसमी लुम्बे कसिया॥२॥

१. 'विक्रम' मार्गशीर्ष, २००१।

बालापण में गउवा चराई,
तिन देसे चाला बसिया।
मुरली म्हारी सदा ही सुहावे,
मृगनैणी नाचे रसिया ॥३॥
मटकी फोड़ी दही म्हारो डारयो,
बाह पकड़ मैली बसिया—!
चन्द्रसखी अब आप मिल्या है,
कृष्णमुरारी म्हारे मन बसिया ॥४॥

ठाकुर रामसिह द्वारा सम्पादित संग्रह मे भी यह पद है। इसे अनेक गायकों द्वारा गाते हुए सुना है।

वंशी चुराना, वंशी की धुन पर अभिसार के लिए प्रस्तुत होना, मटकी फोडना, गोपियों की छेड़-छाड, उलाहने, शिकायत आदि के प्रकरण भी चन्द्रसखी ने अपनाये हैं। मीरा की भाँति चन्द्रसखी अपने उपास्य के चरण-कमल पर बार-बार बलिहारी होती है :

मदन मोहन म्हारी विनती सुनो
करुणा सिन्धु है, जगत् बन्धु,
संतन हितकारी
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे,
कुण्डल की छब न्यारी
यमुना तीर धेनु चरावे,
ओढ़े कामरी कारी,
ब्रन्दावन की कुञ्ज गलिन में
निरत करे गिरधारी
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छबि,
चरण कमल बलिहारी।

युवावस्था के संयोग-वियोग तथा रुदन-हास्य आदि प्रसंगों के सभी गीतों में 'भज बालकृष्ण छबि' की टेक सानुकूलता के विपरीत है। लोक-

भजनकार द्वारा स्वभावतः यह टेक प्रायः सभी गीतों में उतरी है। यह कहने मे अतिशयोक्ति न होगी कि चन्द्रसखी शिक्षिता न थी। उनमें तन्मयता, सारल्य और अपने उपास्य के प्रति निष्कपट लगन थी।

चन्द्रसखी के गीतो मे गुजराती का प्रभाव लक्षित है। सं० १७०० के आस-पास मालवा और गुजरात मे पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ है। राजस्थानीपन की तरह प्रचारवश चन्द्रसखी के कुछ भजनों मे अवश्य ही गुजराती प्रभाव आ गया है। चन्द्रसखी-सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों से जानकारी अपेक्षित है। गुजरातवर्ती साहित्यिकों से भी इस विषय में आशा की जा सकती है। मध्यभारत के सभी वर्गों एवं राजस्थान के साहित्यिको एवं पाठको से निवेदन है कि वे अपनी जानकारी प्रकाश मे लाकर चन्द्रसखी के प्रेम रस से मालव-जीवन को परिप्लावित करे।

संत सिगा—निमाड के कृषि-प्रधान जीवन में संत सिगा का वर्चस्व किसी भी अन्य संत अथवा लोक-कवि की अपेक्षा कही अधिक है। मालवा के ऊँचे पठार से उतरते ही सतपुडा की शैल-मालाओ तक के निमाड मे कृषको और उनके मवेशियो को संत सिगा की आन लगती है। यह संत कवि अपने सम्बन्ध मे अनेक विलक्षण किवदंतियो से समृद्ध और गीतो में वंद्य है।

इसमे संदेह नही कि सिगा के भजनो का प्रसार निमाड़ के गॉव-गॉव मे है। उनके नाम से छत्तीस 'निशान' चलते है, जो भादों मे अपने स्थान से निकलकर होली पर वापस लौटते है। श्री सिगा के नाम से बालावड, टवाणा, पीपल्या और मोहणा मे प्रतिवर्ष मेले लगते है; जहाँ हजारो की संख्या में मवेशियो का क्रय-विक्रय होता है, मान उतारी जाती है और भक्त-मण्डलियाँ सिगा जी की स्तुति करती है।

कहते हैं कि सिगाजी के गुरु ने उन्हे एक दिन आज्ञा दी थी कि यदि मैं निद्रा में होऊँ और पूजा का समय हो जाय तो मुझे जगा देना। गुरु के कष्ट का अनुमान करके सफेद मकड़ी के आने पर स्वयं सिंगाजी ने पूजा कर दी। निद्रा-भंग होने पर गुरु क्रुद्ध हुए और उन्होने सिगाजी को आजन्म

मुँह न दिखाने की आज्ञा दी। कदाचित् उनके विरक्त होने का यही कारण है।[1]

इसी प्रकार औलिया पीर और महाकवि तुलसीदास से सिगाजी की ग्राम पीपल्या में महेश्वर तहसील में भेट होने की किवदंती भी प्रचलित है। तुलसीदास उत्तर की ओर से आये थे और औलिया पीर खानदेश से। औलिया ने सूखी भूमि पर नदी की धारा बहा दी और सिगाजी ने कुँवारी केड़ी का दूध निकाला। किवदती से यह आधार अवश्य मिल जाता है कि सिगाजी तुलसीदास के समकालीन होगे। उनके सम्बन्ध मे दलू भगत की छाप वाले एक प्रचलित गीत में कुछ विलक्षण कार्यो का उल्लेख मिलता है। दलाजी चमत्कारी पुरुष थे। वे मण्डलेश्वर के निकट लेपा ग्राम मे रहा करते थे। उनका गीत है :

अजमत मारी कई कूँ सिगाजी तमारी
झाबुआ देस वाँ बहादरसिग राजा
अरे वाँ गई बाजू के फेरी
झाझवान ने तम ख सुमरया
अरे वाँ डूबी झाझ उबारी
नदी सिपराड़ बहे जल गंगा
अरे वाँ बिन रुत देखी कयारो
सदासिव पय पान मँगत है
अरे वाँ दुई भोट कुँवारी
दला भगत चरणों का सेवक
अरे वाँ जन की फोंजा घेरी
अजमत……

इस प्रकार के अनेक गीत निमाड़ में प्रचलित हैं। गीतो के द्वारा ही इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि सिगाजी कौन थे।

सिंगाजी का जन्म एक गवली के घर मे निमाड़ के खजूरी नामक ग्राम

---

[1] निसरपुर, निमाड़।

मे हुआ बताते हैं। कुछ स्थानो पर उनासा के निकट मूँदी (म० प्र०)[1] नामक स्थान को भी उनका जन्म-स्थान बताया जाता है। खण्डवा के निकट हरदा की ओर जाने वाले मार्ग मे बीड स्टेशन से दो मील दूर सिगाजी की मृत्यु हुई। कंसा या हलवा सिगाजी का भोग है। दलू भगत का एक गीत और देखिये :

बाबा सिंगाजी जात नो गवली
देवा बहुत बजावे पावा पावली
बाबा सिगाजी नाना मोटा आँगणा
बाबा धन आयो तिना घर पावणा
बाबा इन धन लछमी बहुत फली
सेवा बहुत करे वाकी कड़वाळी
बाबा अपणी हाँसी को फेर लियो
बाबा राम नाम कर लेवाली
बाबा दलू पति जाकी विनती
देवा सरण लगी पाली[2]

निमाड-पर्यवेक्षण-समिति ने सिगाजी के गीतों की एक हस्त-लिखित प्रति प्राप्त की है। उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे विचार किया जा रहा है। इस बात का श्रेय समिति के सदस्यो को है कि उन्होने सिगाजी-जैसे संत कवि को प्रकाश में लाने का प्रयत्न आरम्भ किया।

सिगाजी-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री दो प्रकार की है—१. सिगाजी की प्रशंसा मे गाये जाने वाले गीत, एवं २. सिंगाजी द्वारा रचित गीत।

सिगाजी के पदों अथवा गीतो की संख्या बहुत कम है। उपलब्ध गीतों

---

1. धन मूँदी धन परगनों धन संतन की भीड़।
   जाँ गुरु सिंगा पावन कियो नग्र पीपलो गाँव ॥
   महेश्वर तहसील के पीपल्या ग्राम में सिंगा जी की समाधि भी है।
२. तिरमल ऊंकार पटलारा, घटिया, निमाड़।

से सहज ही ज्ञात होता है कि सिगाजी का कवि कबीर की भाँति फक्कड़ और खरा है। वह राम और कृष्ण दोनो का उपासक है। वह जीवन के अनुभवों को निर्गुणी धारा मे सहज ही मोड़कर बहुत ही बड़ी बात कह जाता है। निमाड़ी साहित्य के अध्येता श्री रामनारायण उपाध्याय ने सिगाजी की कुछ पद-पंक्तियो को प्रकाशित किया है। उन्हे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है:

पाणी पवन से पातला, जैसा सुर्या मे घाम।
ज्यो हो शशि का चाँदणा, ऐसा मेरा राम॥

अगला होयगा आग का पूला,
अपुण न होणु पाणी रे।
जाण का आग अजाण हुई न,
तत्त्व एक लेणु छाणी रे॥

जीवन है सासरिया मेरा, मरण है पियरिया रे।

निश्चय ही सिगाजी की रचनाओं पर सिद्धो की उस परम्परा की छाप है, जो कबीर और उनकी परम्परा मे आने वाले अनेक कवियो की रचनाओं मे मिलती है।

अन्त मे सिगाजी का एक गीत प्रस्तुत किया जा रहा है:

ऐसा नर कू सेवना जिन जग कू जिलाया रे
बाबा भोपा सब कहे जिन ठग खायी दुनिया रे
जिन घर का सब मरी गया वाकू क्यों न जिलाया रे
ऐसे नर कू सेवणा········
बरत करे तो भए आत्मा कलपाये
फिरता-हिरता मरी गया वा नर बैकुण्ठ जावे
ऐसे नर कूँ सेवणा·······
तिरथ करे सो क्या भए असनान करावे
जे नर जल कू सेवता वा मगर कहावे
ऐसे नर कूँ सेवणा·······

जगन कोटि एकू फल है नित साधू जिमावे
कह जग सिंगा पेचाण जो वा नर बैकुण्ठ जावे
ऐसे नर कू सेवणा······

दीनानाथ जी—भजनी रचित साहित्य के अन्तर्गत अवन्तिका के स्व० विद्वान् दीनानाथ जी के पद विशेष उल्लेखनीय हैं। आप ज्योतिष एवं संस्कृत-साहित्य के विद्वान् थे। आपने ज्योतिष-सम्बन्धी कई पद्य लिखे हैं। तथा मालवी भाषा मे 'लक्ष्मी कान्त पदावली' की रचना की है। उसमे की एक रचना देखिये :

नन्द बंस को ढाड़ी आयो, नन्दबंस को ढाड़ी।
तीस कोस दोपेरी में आयो, को गिणो ना खाड़ी॥
नन्दगाम को पंथ कठिन है, बीस कोस की झपड़ी।
कचड़-बचड़ सब साथे आया, छुं छोड़ा दो गाड़ी॥
बुड्डी-डुड्डी पाछे मेली, साथे छोटी लाड़ी।
बाल-बच्चा सब हाजर बैठा, चेली छज्जे बारी॥
घर खटलो मुक्काम धरयो है, साठ भैंस सो पाड़ी।
साठ बरस की आसा म्हारी, लेवूँ खूब बधाई।
छेल छबीली छोटी-मोटी खावे जिनंगी सारी॥
'दीनानाथ' बधाई दीनी, ढाड़ी के मनमानी।
अटल रहो यह भाग तुम्हारो, पूरो आस तुम्हारी॥

श्रीनारायण जी—दीनानाथ जी के पश्चात् दूसरे विद्वान् श्रीनारायण-जी व्यास है। आपने श्रीगणेश एवं पंचमुखी हनुमान की स्तुति मे अनेक पद लिखे। कुण्डलिया छन्द मे 'मालवी रामायण' आपका उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

अन्य रचनाकार—आगर के मेरू गुरु, मुंगलखाँ, चेनराम और मोती गुरु 'कलगी अखाड़े' के प्रसिद्ध कवि थे। खेद है कि उनकी रचनाएँ अब नही मिलती। तुर्रा अखाड़े के बलदेव उस्ताद की रचनाएँ आगर के कागदी बन्धुओं के पास सुरक्षित हैं। कहते हैं उनके संग्रह मे बलदेव उस्ताद की लगभग १६० स्फुट रचनाएँ है। श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय के प्रयत्नो

से कुछ सामग्री प्रकाश में आई है। श्रीगणेश के प्रति लिखी गई उनकी एक स्तुति है:

'मैं प्रथम नमूँ गणपति गजानन्द
रिद्-सिद् के मालक तुम होजी विघन भंजक ॥ टेक ॥
प्रथम सुमरू मजलस म्याने। देना ग्यान घन-विघन-हरन ॥
मालक मैं प्रथम करूँ ध्यान। मे अरजरदार नोकर तेरा रखो पेचान।
चार वेद के सास्तर गावे अठारह पुराण ॥
धन बक्र तुण्ड एक दंते मजलस में अरज करे संते।
सर छत्र पुष्प सोभते ॥
कहे विप्र बलदेव गजानन सर्व प्रथम पूजन्ते ॥ इत्यादि ॥

पता चला है कि आगर के महन्त हरिदास ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में मालवी भाषा की कुछ पुस्तकें लिखी थीं, जो अब अप्राप्य हैं। आगर के समीप कानड ग्राम के पटवारी श्री मूलचन्द जी (उपनाम 'लखनतनय'), जो आजकल काफी वृद्ध एवं नेत्र-विहीन हो गए हैं। अपनी युवावस्था मे नित्य-प्रति पाँच भजन बनाकर गाया करते थे। ऐसे भजनों की संख्या काफी है। आपके भजनों मे खडी बोली का प्रभाव मालवी रंगत के साथ निखरा है :

थारी काया सोना ही अँगूठी बनी,
जीमे पाँचों ही तत्व नगीना जड़्या ॥ टेक ॥
तुझे काँटे चोरासी में तोल कियो
गरभवास कसोटि दिया रगड़ा
विधना सो सुनारन सोदो कियो
मुई किस्मत रूप मनुष्य बड़ा ॥
हरिभक्त को पानी अखंड रहे
जग प्रेम प्रेम का तेज बढ़ा।
जोहरी ने परख सद्गुरू मे हुई,
परमेश्वर को . चित्त जाय अड़ा ॥

ऐसो पारस भक्त अनेक हुआ
ध्रुव आदि बैकुण्ठ के द्वारे अड़ा।
'लखनतनय' संग लेके चलो
हरि कहे नाम का शीश धरो घड़ा ॥

अन्त में मालवी मे अनूदित 'दुर्गा सप्तशती' (सरवन, रतलाम जागीर) 'शुक्रनीति' (गणपति बुवा, सावेर), 'शिव लीलामृत' (इन्दौर) आदि ग्रन्थो का उल्लेख आवश्यक है। अस्तु।

लोक-साहित्य

मालव-प्रदेश के नैसर्गिक वैभव की भाँति उसका लोक-साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध और हृदयग्राही है। लोगों की उदार मनोवृत्ति और उसके नैतिक आदर्शों की छाप गीतों, कथाओं और वार्ताओं मे विद्यमान है। मालवा भारत का मध्यवर्ती भू-भाग है। जन-मानस की आन्दोलित लहरे समय-समय पर उसे छूकर अपने साथ लाई हुई भावनाओं का प्रभाव छोड़-कर बदले मे कुछ लेती गई। भारत के विभिन्न प्रान्तों मे प्रचलित कथाओं तथा गीतो आदि मे जब मालवी गीतो अथवा कहानियों के लक्षण एवं स्वरूप दृष्टिगोचर होते है तो उतना आश्चर्य नही होता जितना भारत के निकट-वर्ती देशो की कहानियों मे उन्हे पाकर होता है। विद्वानो ने स्वीकार किया है कि भारतवर्ष की अनेक कथाओं का प्रभाव एशियायी कथा-साहित्य पर है। 'कथा सरित्सागर' की अधिकाश कहानियों का इसके प्रति उल्लेख किया जाता है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि उसकी लगभग तीन-चौथाई कथाओं का क्षेत्र भारत का मध्य भाग ही है। उनमे वर्णित उज्जयिनी के निकटवर्ती प्रसंग मालवी लोक-साहित्य के काल-निर्णय मे सहायक होते है।

वर्गीकरण

मालवी लोक-साहित्य स्थूल रूप से दो भागों मे विभक्त है—

१. गीत-साहित्य (पद्य) और २. अगीत-साहित्य (गद्य)। गीत-साहित्य मालवी की सजीव एवं परम्परागत निधि है। संक्षेप में इसका

निम्नानुसार वर्गीकरण किया जा सकता है।

गीत-साहित्य के अन्तर्गत मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की सामग्री है।

मुक्तक : १. संस्कार-विषयक गीत :—बालक-जन्म के गीत, मुंडन-जनेऊ के गीत, विवाह के गीत (वर-वधू-पक्ष) पूर्वजों के गीत तथा मृत्यु-गीत।

२. धार्मिक गीतः—पंथी-गीत, देवी-देवताओं के गीत और भजन।

३. माहवारी गीतः—ऋतु-गीत तथा बार-त्योहारी गीत।

४. ऐतिहासिक एवं अर्द्ध ऐतिहासिक गीत।

५. बच्चों के गीतः—लडकों के गीत, लडकियों के गीत तथा क्रम-संवृद्धित गीत।

६. विविध गीत :—कौटुम्बिक गीत, गाली (हास्य), ख्याली गीत, किलगी-तुर्रा, लावनी तथा अन्य।

प्रबन्ध : १. धार्मिक गीत कथा :—एकादशी, शंकरजी को ब्यावलो कृष्णावतारी कथा, अहिमन कथा आदि।

२. ऐतिहासिक गीत कथा :—हीड, तेज्या थोल्या, ढोला-मारू, आदि मंजी (मुंज) पँवार, धन्ना भगत आदि।

गीतों की प्रवृत्ति

उक्त वर्गीकरण मे स्त्रियो और पुरुषो दोनो के गीत सम्मिलित किये गए हैं। संस्कार-विषयक, कौटुम्बिक एवं माहवारी गीतो की प्रवृत्ति स्त्रैण है, क्योकि वे सभी स्त्रियो से सम्बन्धित हैं। लडकियो के गीतो की प्रवृत्ति भी स्त्रैण ही है। धार्मिक गीतो मे पंथी गीत पौरुष-प्रवृत्ति के हैं। ऐतिहासिक एवं अर्द्ध-ऐतिहासिक गीतो तथा प्रबन्ध-गीतो मे परुषता का अभाव नही है।

पंथी-गीतों ने मालवी पौरुष-प्रवृत्ति को विशेष रूप से प्रभावित किया है। गमदेव, कबीरा, जोगीडा, भरतरी-बेराग, गोरख आदि गीतो की निर्गुणी भावनाओं ने मालवी पुरुष को कट्टर सनातनी, अन्धानुसरणी एवं

बौद्ध-विरोधी नही रहने दिया। केन्द्रीय भू-भाग के कारण मालवा विभिन्न धार्मिक और राजनीतिक प्रभावो से वंचित नही रह पाया। अतः जो भावनाएँ, धार्मिक चिन्तन की जो विशृङ्खल कड़ियाँ, काल-निर्णायक जो भूमिका और गतिशीलता पंथी-गीतो मे व्यक्त होती है वह अन्य गीतो मे नही। निश्चय ही कबीर तथा नाथपंथियों का इन लोक-गीतो पर काफी प्रभाव है।

स्त्रैण-प्रवृत्ति के गीत परम्परागत सम्पत्ति है और भाषा-विज्ञान एवं लोक-वार्ता-शास्त्र की दृष्टि से संग्राह्य है। अनेक मालवी लोक-मान्यताएँ, जो गीतो से जुड़ी हुई है, भारतीय मान्यताओ के तुलनात्मक अध्ययन मे सहायक सिद्ध होती है। यही बात मालवा के उपभाग निमाड़ के लोक-साहित्य पर लागू होती है। कतिपय ऐतिहासिक निर्णयो के लिए निमाडी लोक-साहित्य तो निश्चय ही उपयोगी है।

म्हारो देस मालवो, मुलक निमाड़
गाँवड़ा को छे रहे बास

निमाडी लोक-गीत की उक्त पंक्ति यह प्रकट करती है कि निमाड मे ग्रामो का वास है, जो मालवा का ही एक भाग है। यह भूमि कर्म-रत किसानो के स्वरो से मुखरित है। अनेक अज्ञात लोक-गीतकारो की ध्वनि मालवा और निमाड़ में समान रूप से प्रवाहित है। मालवी गीतो मे कुछ गीत तो ऐसे हैं जो गान-पद्धति एवं बोल मे बिना किसी विशेष भेद के गाए जाते है। गनगौर, भात, पूर्वज, फुल-पाती आदि के गीत इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमे (स्त्रैण-प्रवृत्ति के गीतों में) गत्यात्मकता का अभाव है। राजस्थानी गीतो की तुलना से यह अन्तर तत्काल ज्ञात हो जाता है।

गीतों का रङ्ग

मालवी गीतों का रंग भड़कीला नही है। हल्के और सौन्दर्य-प्रसाधनात्मक नैसर्गिक रंगो का उल्लेख मालवी गीतो मे निखरा है। भावनाओं मे सादगी, सरसता तथा रागात्मक तत्त्वो से मालवी गीत परिपूरित है। इनमे आदिम प्रवृत्तियो का प्रभाव कम और मध्यकालीन कृषि-प्रधान सभ्यता का

प्रभाव ज्यादा है। तत्कालीन परिस्थितियों का संकेत भी इनमें मिल जाता है। सन् १६१४ के युद्ध के पश्चात् सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियो का प्रभाव कुछ मालवी गीतो मे प्रकट हुआ। गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन की झलक भी हमे मिलती है। मुगलो के अत्याचारो का संकेत और बाद में १८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध की चिनगारी भी फिरंगियो के विरोध के नाम पर कुछ गीतों मे शेष है।

फिर भी मालवी-जन सन्तोषी है। वे उपजाऊ भूमि के स्वामी होकर सदैव निश्चिन्त रहे है। अन्य प्रान्तो के गीतों मे अकाल के समय मालवा जाने की सलाह दी गई है। एक किसानी कहावत है :

सावन कृष्ण एकादशी, गरज मेघ अधरात।
तुम जाओ अब मालवा, हम जावें गुजरात ॥[1]

किन्तु मालवी किसान को अपनी भूमि छोड़कर जाने की कभी कल्पना भी नहीं हुई।

मालवा की अपनी परम्पराएँ, विश्वास और धारणाएँ हैं। उसका सोचने का तरीका अपने ढंग का है। चूँकि सम्पूर्ण भू-भाग जीवन-संघर्ष से कम जूझा है, इसलिए शान्तिप्रियता उसमे समा गई है। मालवी किसान अपनी लाल पगड़ी बाँधे, हाथ मे 'डॉग' (डंडा) लिये तथा घुटनों तक की धोती कसे, धीमे लहजे से काम करता रहता है। उसे किसी काम की जल्दी नही। चुस्त तो वह है, पर व्यर्थ की चुस्ती दिखाने का वह आदी नही है। मालवी स्त्री अधिक मेहनतकश है। कलाइयो मे मोटे कड़े और रंगीन चूड़े पहने, गले में 'गळसन', पैरो मे कड़ियाँ तथा बाहों मे 'बाजूबन्द' धारण किये वह कितना ही काम बात-बात मे कर देती है। लाल रंग उसे विशेष प्रिय है। उसके बाद काला, पीला और नीला रंग पसन्द किया जाता है। इन्ही मूल रंगो मे उसकी सौन्दर्य-वृत्ति गुम्फित है। पुरुषो को सफेद और लाल रंग पसन्द आते हैं। रंगों की यह छटा गीतों मे उभरी है।

---

१. 'किसान' (त्रैमासिक) जुलाई, १९४३।

मालवा ग्रामो का प्रदेश है। प्राकृतिक हरियाली उसे सहज ही प्राप्त हो गई है। इसलिए हरा रंग मालवा की विशेषता है, यद्यपि पीत और नील के संयोग से वह स्वाभावतः व्यक्त हो जाता है। गीतो मे प्रयुक्त 'लीला' शब्द हरे रंग का ही पर्याय है। यह कहने की आवश्यकता नही कि झोपड़ियों और गोबर से लिपे-पुते 'ओवरो' मे बसने वाले मालवी-जनो का संयुक्त चित्र बहुत ही कम रंगो मे अंकित किया जा सकता है। साँझ होते ही खेत अथवा 'माळ' (जिसका मालवी अर्थ जंगल है) से लौटते हुए ढोरो के समूह और उनके गले मे बँधी घण्टियों की ध्वनि तथा अल्हड युवको के लम्बे अलाप प्रकृति से उनके नैकट्य का भान कराते हैं और फिर थोड़े ही समय के पश्चात् शीत-काल मे 'अलाव' लगाकर किसान-युवको के झुण्ड अलग-अलग दीखते है। ऐसा प्रतीत होता है मानो सामाजिक नैकट्य उनके जीवन का स्वभाव हो गया है।

'अलाव' के चहुँओर समाज का यह नैकट्य अगीत-साहित्य की रक्षा में विशेष सहायक सिद्ध हुआ है। पुरुषो मे प्रचलित कथाएँ, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ और चुटकुले ऐसे ही समय मनोरंजन के प्रधान अंग होते है। मालवी का अगीत-साहित्य वस्तुतः मौखिक गद्य ही है, पर उसमे कही-कही पद्य की छटाएँ गद्य-गीत अथवा गद्य-पद्य के मिश्रित वैभव को उद्घाटित करती हैं। रातो चलने वाली कथाएँ, स्त्रियो मे प्रचलित व्रत-कथाएँ (वार्ता), पारसी (पहेलियाँ), केवात (कहावते), अवदान आदि मालवी लोक-गद्य की मिली-जुली सामग्री है। लगभग २५५ कहानियो के मध्यभारत-क्षेत्र से संकलित किये जाने का उल्लेख श्री वेरियर एलविन ने किया है। इन कहानियो में अधिकांश कहानियो ने दूर-दूर तक यात्राएँ की है। एक बृहद् संग्रह के अभाव मे यह निश्चित करना कठिन है कि मालवी कहानियो का एशिया की कहानियो मे क्या स्थान है।

'किलगी-तुर्रा'

'किलगी-तुर्रा' की एक परम्परा मालवा और निमाड़ में 'माच' की भाँति ही विद्यमान है। इस अखाड़े के लोग कुछ तो परम्परा से प्राप्त

मौखिक और कुछ नवीन सामग्री के आधार पर अपनी वाणी का कौशल दिखाया करते है। सम्भवतः रीति-काल के प्रारम्भ होते ही इसका प्रवेश लोक-गायको मे हो गया। 'किलगी' एक ओर से गाई जाती है और 'तुर्रा' दूसरी ओर से। इस प्रकार दो दलो का बुद्धि-परक काव्य-कौशल छन्दो के बन्दो मे संगीत के माध्यम से प्रकट होता है।

'किलगी-तुर्रा' के उद्भव के सम्बन्ध मे एक किंवदन्ति निमाड पर्यवेक्षण-दल (मालव लोक-साहित्य-परिषद् उज्जैन) को ग्राम मोरगडी (निमाड) मे सुनने को मिली। तुखनगीर गुसाई और मायरली मुसलमान ने एक दिन विचार किया कि दुनिया मे कुछ ऐसा किया जाय कि नाम और यश प्राप्त हो। तुखनगीर ने शंकर का बाना धारण किया और 'तुर्रा' का भगवा झण्डा खडा किया। 'किलगी' का छींट वाला झण्डा मायरली ने उठाया। मध्यस्थ के रूप मे 'टुण्डा' का प्रवेश भी हुआ। 'तुर्रा' पक्ष शिव का आराधक है, जिसका विश्वास है कि शिव आदि पुरुष है और किलगी (जो कि शक्ति है) पार्वती हैं। 'किलगी' पक्ष की मान्यता भिन्न है। उसका कथन है कि 'किलगी' आदि-शक्ति है। उसीसे शिव उत्पन्न हुए हैं। अतः शिव शक्ति का पुत्र है।

उक्त दोनो मान्यताओं को लेकर दोनो पक्षो मे छन्द-संघर्ष होता है। दूर-दूर से गाने वाले निमन्त्रित किये जाते है, जो अपनी पुस्तैनी पोथियो को लेकर टोलियाॅ बनाकर आते है।

'किलगी तुर्रा' का रिवाज पिछले २५ वर्षो से धीरे-धीरे उठने लगा है। कहते हैं कि एक-दूसरे पक्ष को नत करने के लिए तान्त्रिक प्रयोग का प्रवेश इसमे आरम्भ हुआ। ऐसे तान्त्रिक पदो को 'जंजीरा' कहा जाता है।

निमाड के चोली ग्राम मे किलगी-तुर्रा की अनेक हस्त-लिखित पोथियाॅ भारतीय महाराज के शिष्य के पास सुरक्षित है। कहते हैं कि महारानी अहल्याबाई के समय 'किलगी-तुर्रा' के गायकों को काफी प्रोत्साहन मिला था।

'किलगी-तुर्रा' की होड़ में जैसे दलीलो का महत्त्व है वैसे ही छन्दो के स्वरूप को निभाने का भी कौशल विद्यमान है। यदि एक दल ने कोई

प्रसंग किसी विशेष छन्द मे कहा तो सामने वाले पक्ष को उस छन्द की अन्तिम पंक्ति लेकर उसी छन्द मे उत्तर देना पड़ता है। अन्यथा 'सिकस्त' समझी जाती है।

'किलगी-तुर्रा' मे कई प्रकार की रंगते होती हैं। छोटी रंगत, बड़ी रंगत, लॅगड़ी रंगत, आड़ी रंगत, खड़ी रंगत आदि रंगते गाने के विशेष ढंग है। जुवाबी, अधर-रकारी, तितारी, चौतारी, दुअंग, मनबसी, झड, झड़ती, बहर-तबीर, सनत, दूहा, सेर आदि छान्दिक प्रकारो का प्रचलन दोनो पक्षो मे पाया जाता है।

'अधर रकारी' तो टेढ़ी परीक्षा है। इसके छन्द मे एक भी अक्षर ओष्ठ्य नही होता है।

मोरगडी (निमाड़) के हीरामुकाती, अकबर खॉ, आगर (मालवा) के 'किलगी' अखाड़े के भेरू, मोती, मुगलखॉ और चेतराम तथा 'तुर्रा' अखाड़े के बलदेव उस्ताद की रचनाऍ लोगो मे बहुत प्रचलित है। कदाचित् इस साहित्य का विकास मुसलमानी शासन-काल मे हुआ है। पिछले तीन-चार सौ वर्षों की लोक-भावनाओं को जानने के लिए यह साहित्य उपयोगी है। इसका अधिकाश साहित्य उच्चकोटि का है।

फुटकर प्रयत्न

मालवी लोक-साहित्य-संकलन का जो कार्य अब तक हुआ है वह सन्तोषजनक नहीं है। इस दिशा मे सर्व प्रथम ध्यान देने वाले श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव है। श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' ने भी मालवी-सम्बन्धी लेख लिखकर बहुत पहले (सन् १६३२ मे) इस दिशा मे प्रेरणा दी है। पण्डित प्रभागचन्द शर्मा (खंडवा) ने 'मालवी लोक-गीतो मैं नारी'[1] तथा पण्डित गोपीवल्लभ उपाध्याय ने 'साधना' मे प्रकाशित अपनी कुछ रचनाओ द्वारा (१६४३) गीत-संकलन के प्रति रुचि पैदा करने मे योग दिया। श्री जी० आर० प्रधान ने बम्बई-विश्वविद्यालय के समाज-शास्त्र-विभाग के लिए सन् १६३६ और ४२ के बीच भूतपूर्व धार रियासत से कुछ मालवी गीत एकत्र

---

१. 'हंस', सितम्बर १६४० ।

करके अथवा एकत्र करवाकर विभागीय पत्रिका में दो लेख लिखे थे। भूतपूर्व होल्कर-राज्य के शिक्षा-विभाग ने ग्रामीण शिक्षकों की सहायता से एक गीत-संग्रह तैयार किया था, जो अब अप्राप्य है। धार ने तो एक शासकीय विज्ञप्ति प्रकाशित करके लोक-साहित्य के संकलन के लिए प्रयत्न भी किया था, किन्तु कुछ परिणाम न निकला। इन पंक्तियों के लेखक ने सन् १९४२ के पश्चात् मालवी गीतों को लिपिबद्ध करने का बीड़ा उठाया। परिणामस्वरूप सन् १९५२ तक लगभग तीन हजार गीत संकलित किये जा सके।

इस बीच हिन्दी-अंग्रेजी में तीन-चार दर्जन मालवी गीतों-सम्बन्धी लेख लिखे, जिनसे इस दिशा में काफी प्रेरणा का संचार हुआ। 'मालवी लोक-गीत' के नाम से हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर ने सन् १९५० में कुछ लेखों का संग्रह भी प्रकाशित किया था, जिसमें गीतों पर विषयानुसार विवेचन किया गया है। उज्जैन के श्री सूरजप्रसाद सेठी, श्री सूर्यनारायण व्यास तथा नागदा के श्री हरीश निगम ने मालवी लोकोक्तियों का संग्रह किया है, जिनकी संख्या डेढ़ हजार से कम नहीं है। गीत-संकलन-कर्ताओं में श्री चिन्तामणि उपाध्याय, श्री अनूप, श्री बसन्तीलाल बम्ब, श्री स्वरूप-कुमार, ग्रामिक श्री नेमिचन्द जैन के नाम फुटकर गीत-संग्राहकों की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

आजकल लोक-कथाओं के संग्रह की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है। सन् १९५२ के आरम्भ में 'मालव-लोक-साहित्य-परिषद्', उज्जैन की स्थापना हुई, जो इस दिशा में विशेष गतिशील है। इसका कुछ श्रेय उज्जैन के प्रतिभा-निकेतन को भी है। निमाड़ में (जो कि मालवी का ही उपक्षेत्र है) 'निमाडी लोक-साहित्य परिषद्' की स्थापना हाल ही में की गई है, जिसकी प्रेरणा मालव-लोक-साहित्य-परिषद् द्वारा किये गए निमाड़-पर्यटन से मिली है।

लोक-गीतों का संगीत पक्ष

मालव-प्रदेश के लोक-गीतों का संगीत पक्ष अब तक अध्ययन का आधार नहीं बना था। किन्तु पिछले दो वर्षों से भारत-प्रसिद्ध संगीतज्ञ

श्री कुमार गन्धर्व ने मालवी गीतों की धुनों का अध्ययन इस आधार पर करना आरम्भ किया है कि वर्तमान हिन्दुस्तानी-पद्धति की राग-रागिनियों के स्वरों के मूल रूप लोक-संगीत में ही निहित है। लोक-धुनों को स्वरबद्ध करने से एवं उनके गहरे अध्ययन द्वारा अनेक नये रागों का निर्माण सहज ही में किया जा सकता है। श्री कुमार के इस अनुसन्धान एवं भारतीय संगीत के विकास-यज्ञ में उनकी पत्नी श्रीमती भानुमती गन्धर्व का भी पूरा-पूरा सहयोग है। अपने इस प्रयास में श्री कुमार ने लगभग २०० धुनों का संकलन करके ५० नये रागों का निर्माण किया है। 'नेशनल एकेडेमी ऑफ डान्स एण्ड म्युजिक' द्वारा इस दिशा में उन्हें विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाने की सम्भावना है।

आधुनिक मालवा : गद्य एवं पद्य

गद्य

मालवी के आधुनिक गद्य का आरम्भ बदनावर (जिला धार) निवासी श्री पन्नालाल 'नायब' लिखित 'मास्टर साब की अनोखी छुटा' नामक प्रहसन से होता है। यह पुस्तिका लगभग ३६ वर्ष पूर्व लिखी गई थी, जिसका उद्देश्य ग्रामीण शिक्षकों की अभाव-ग्रस्त स्थिति का परिचय देते हुए हास्य की सामग्री प्रस्तुत करना है। प्रहसन के बीच मे स्थान-स्थान पर पद्यबद्ध पंक्तियाँ पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के नाटकों की याद दिलाती हैं। श्री 'नायब' ने 'भारत में थू और फू' नामक दूसरा प्रहसन मादक वस्तुओ के विरोध मे, उक्त पुस्तिका के दस वर्ष पश्चात् लिखा; किन्तु उसका गद्य मालवी मे नही है। मालवी के आधुनिक गद्य का आरम्भ इस प्रकार हीन रूप मे ही हमारे सामने आ सका है। इसके कुछ कारण अवश्य है। गद्य-लेखन की प्रवृत्ति तो पहले से ही हमारे मे कम रही है, फिर मालवा मे इसका क्रम (जो पहले कभी रहा होगा) आधुनिक गद्य से न जुड़ पाया। अतः उपलब्ध प्रमाणों के अभाव मे हमे इसी निष्कर्ष से सन्तोष कर लेना चाहिए।

संवत् २००४ मे हिन्दी ज्ञान मन्दिर, बम्बई से प्रकाशित 'जागीरदार' नाटक मालवी का एक सफल प्रयोग सिद्ध हुआ। यह सम्पूर्ण नाटक डॉ० नारायण विष्णु जोशी द्वारा अपने अनुज श्री जयराम जोशी की सहायता से

लिखा गया है और दो-तीन वर्ष पूर्व बम्बई मे खेला भी गया है। नाटक की कथावस्तु मालवा मे जागीरदारी-प्रथा के दोषों को उभारते हुए निम्न-वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने मे पर्यवसित हुई है। जागीर के अधिकारियो द्वारा राजल और भेरूलाल दो पात्र पीड़ित किये जाते है। एक ओर ये दोनो पात्र हैं और दूसरी ओर जागीरदार का दल। कैसा भी झगडा खडा करके जुल्म करना उनका साधारण काम है। जागीरदार के आदमी सुन्दर-सिग, कामदार और महाराज सब अपना काम बडी मुतैस्दी से करते है। इन सबके ऊपर है जागीरदार, जो इन जोंकों के जरिए लोगों का खून चूसकर विलास-रंग मे मस्त रहता है। उसे इसकी परवाह नहीं कि कौन मरता है और कौन जीता है।

अन्य पात्र कथा के विकास मे सहायता देते हैं। बा की पिटाई और राजल की मौत एक नया वातावरण पैदा करके नाटक मे गति उत्पन्न करते है। सुखलाल, फकीर और मोत्या नौकर जागीरदार के अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाकर उसका और अन्य कर्मचारियो का भण्डा फोड़ने के लिए पुलिस और अधिकारियो से मदद लेते है। वे भी दिन को रात बनाने से नही चूकते। परन्तु जिस बात को गॉव का एक-एक आदमी जानता था और जो जागीरदार के अत्याचारों से पीडित था, इस सचाई के गवाह के रूप मे जब प्रस्तुत दिखाई दिया तो सामूहिक शक्ति के सम्मुख किसी की भी न चल पाई और असली खूनी पकड़ लिए गए।

सम्पूर्ण नाटक मे प्रारम्भ से अन्त तक स्वाभाविकता व्याप्त है। कोई ऐसा स्थल नही है जहॉ लेखक की क़लम बहकी हो। जागीरदारी-प्रथा के विरोध मे लम्बे-लम्बे भाषण इसमे नही हैं। श्री अमृतराय के शब्दो मे कहे तो 'तकरीरो के भयानक रोग' से 'जागीरदार' बिलकुल मुक्त है। असत्य को प्रतिबिम्बित करने की कोशिश लेखक ने नहीं की है। सुखलाल और फक़ीर जागीरदार के अत्याचार के विरोध मे लेक्चर नही देते; बल्कि बात-चीत के दौरान मे अपने हृदय के फफोले फोड लेते है। फक़ीर एक ऐसा पात्र है, जो मुसलमान होते हुए भी हिन्दू और मुसलमान मे भेद नही

मानता। मानवता उसके लिए बड़ा धर्म है। मानवता के नाम पर ही उसका हृदय फड़क उठता है। सच्चाई के लिए वह सब-कुछ करने को तैयार है। राजल के कपड़े बरामद करके जब पुलिस के अधिकारी भेरू और उसके सम्मुख लाते हैं तो उसकी आत्मा चीख उठती है।

'जागीरदार' का लेखक एक ऐसा व्यक्ति है जिसकी मातृभाषा न हिन्दी है और न मालवी; बल्कि मराठी है। भौतिक दर्शन की पृष्ठभूमि पर मालवी संस्कार और उसके जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करके 'जागीरदार' में उसके प्रति अपने आत्मीय मिलन का लेखक ने परिचय दिया है। लेखक ने मालवी-समाज को बहुत निकट से परखा है और यही कारण है कि बोल-चाल में प्रयुक्त होने वाले, जैसे **'बकरी जीव से जाय ने खावा वाला के मजो नी आय', 'खडी में कुमेन बोलनो'** आदि मुहावरों को यथा स्थान प्रयुक्त करके स्वाभाविकता की खूब रक्षा की है।

भावुकता के लिए 'जागीरदार' में गुञ्जाइश नहीं। कोई भी ऐसा पात्र नाटक में नहीं जो व्यर्थ भावुकता का राग अलापता हो या नाटक में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए लम्बे-लम्बे वाक्यों की झड़ी लगाता हो। कम से-कम 'जागीरदार' में अनुभवशून्य संवाद और व्यर्थ बकवास नहीं है।

महाराज एक ऐसा पात्र है जो नाटक में हास्य का पुट देता है। लेकिन हास्य अतिशयोक्ति और अस्वाभाविक ढंग से उत्पन्न नहीं किया गया है। स्वयं महाराज की खुशामदपरस्ती से भरी हुई बातचीत का लहजा, अपने पुरखों की प्रशंसा में प्रमाणहीन किस्से, संस्कृत और हिन्दी की कविताओं की मनगढ़न्त पंक्तियाँ और अवसर विशेष के लिए उपयुक्त उदाहरणों की भरमार खुद-ब-खुद हास्य उत्पन्न करते हैं।

नाटक का कथानक चित्रवत् खुलता जाता है। ऐसा कोई स्थल नहीं जहाँ पाठक उलझ जाता हो। एक के पश्चात् दूसरा दृश्य व्यवस्थित रूप से सामने आता जाता है। कहीं कोई कमी नहीं। लेखक ने दार्शनिक की भाँति अपने को प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि इसके ठीक विपरीत वह एक 'मेकेनिक' की तरह प्रस्तुत हुआ है।

जागीरदार का अन्त सुख मे हुआ। घटनाएँ सभी इस ढंग से उठी और सुलझी हैं कि हमे अस्वाभाविकता का लेश-मात्र भी आभास नही होता।

'जागीरदार' के सम्बन्ध मे इतना लिखना इसलिए अनिवार्य प्रतीत हुआ कि मालवी-गद्य के विकास मे यह नाटक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

मराठी भाषी लेखक के द्वारा 'जागीरदार'-जैसा महत्त्वपूर्ण प्रयोग गौरव का विषय है। इसी प्रकार कतिपय और फुटकर प्रयोग श्री नारायण विष्णु जोशी द्वारा किये गए है, जिनमे छोटे प्रहसन और कुछ कविताएँ हैं।

आधुनिक मालवी-गद्य मे नाटकों का यह क्रम निरन्तर बना नही रहा। बीच-बीच मे यदा-कदा ही ऐसे प्रयोग पत्रों मे दीख पड़ते थे। पिछले वर्ष पं० सूर्यनारायण व्यास ने कुछ मालवी-प्रहसन तैयार किये थे। जिनको अब एक संग्रह-रूप मे प्रकाशित कराया जा रहा है।

श्रीनिवाश जोशी-कृत 'वाह रे पठ्ठा भारी करो' उज्जैन के एक पण्डे की कहानी है, जो इन दिनो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। 'वीणा' मासिक मे वह क्रमशः प्रकाशित होती रही। यद्यपि वह अभी पूर्ण नही हुई है, तथापि उसका थोड़ा ही अंश शेष रहा है। घटना इस प्रकार है कि एक अंग्रेज महिला-आर्टिस्ट भ्रमण करते हुए उज्जैन पहुँचती है। स्थान-स्थान पर उसने अपनी तूलिका से कई प्रकार के 'मॉडल' बनाये थे। उज्जैन मे उसे एक पण्डे का स्वरूप, डील-डौल और गेट-अप बहुत पसन्द आता है। वह महाराज गुरु गोटूलाल से, जैसा कि उनका नाम था, प्रार्थना करती है कि वह उसके ठहरने के स्थान पर चलकर कुछ समय के लिए 'सिटिंग' दे, ताकि वह चित्र बना सके, इसके एवज मे उसे कुछ रकम दी जायगी। गुरु तो तैयार थे। नेकी और पूछ-पूछ। **'महाकाल महाराज की किरपा से ऐसा जिजमान रोज थोड़ी ही मिले हे !'**

चित्र तैयार होता है एक बड़ी चित्र-प्रदर्शिनी मे उस महिला को अपने 'माडल' पर पुरस्कार प्राप्त होता है। अपनी सफलता से प्रसन्न होकर महिला

(गोरी मेम) गुरु से विश्व-भ्रमण मे अपने साथ चलने का आग्रह करती है। वह चाहती थी कि उसका 'मॉडल' सभी देशो मे प्रत्यक्ष दिखाया जा सके। गुरु इसके लिए प्रस्तुत हो गए। जैसे-जैसे गुरु यात्रा करते है, वे पत्रो द्वारा देश-देश के अनुभव अपनी योग्यतानुसार करते जाते है। घाट का पण्डा इंग्लैण्ड, अमरीका, फ्रास और रूस मे जाकर अपने ही ढंग से दुनिया को देखता है। उसका दृष्टिकोण ही उपन्यास का शिष्ट हास्य है। लेखक पूरी तरह से अपने पात्र के साथ रँग गया है। उसने हवाई यात्रा, आधुनिक सभ्यता और भ्रमण के चित्रण मे ठेठ मालवी उपमाएँ इस ढंग से गुरु गोटूलाल द्वारा प्रकट की है कि कथानक मे सहज ही प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है। मालवी के हास्य उपन्यास की यह सामग्री उल्लेखनीय है जिसका पुस्तकाकार प्रकाशन होना अब आरम्भ हो गया है। हास्य की उठान और शहरी मालवी का स्वरूप इसमे देखने योग्य है। श्रीनिवास जोशी की भाषा यद्यपि ठेट ग्रामीण नही तथापि उसमे लोच अधिक है। पण्डित सूर्यनारायण व्यास की मालवी और श्री जोशी की मालवी मे काफी नैकट्य है।

श्री जोशी ने अनेक कहानियाँ भी मालवी मे लिखी है। प्रायः सभी कहानियाँ हास्य-रसात्मक है। 'चतुरभुज मारवो', 'सासूजो रिसायगा' और 'सोनापाली' शीर्षक कहानियाँ श्रेष्ठ कोटि के गद्य का स्वरूप व्यक्त करती है। अन्य कहानियो मे भी गद्य का प्रवाहात्मक रूप दृष्टव्य है।

मालवी के आधुनिक गद्य मे गम्भीर सामग्री का अभाव है। इसका प्रधान कारण यह है कि उसके प्रति गम्भीरता पूर्वक पहले कभी विचार ही नही किया गया। ग्रामीण भाषा के प्रति जो रुख शिक्षितो का रहा वह अत्यन्त ही साधारण स्तर का था।

कहानी-साहित्य के रूप मे श्री जोशी से प्रेरणा पाकर मालवी-गद्य में नई सामग्री प्रदान करने का श्रेय श्री बाबूलाल भाटिया (लगभग १० कहानियाँ), श्री बाबूलाल शास्त्री (कुछ संस्कृत-नाटको का मालवी रूपान्तर), श्री ओमप्रकाश 'अनूप' (प्रेमचन्द की लगभग १ दर्जन कहानियो

का अनुवाद) और श्री चिन्तामणि उपाध्याय (कुछ स्वतन्त्र कहानियाँ) को भी प्राप्त है।[1]

पत्र-साहित्य मे मालवी के वर्तमान गद्य का स्वाभाविक स्वरूप निखरा है। पत्रो का सिलसिला हमे दूर तक प्राप्त होता है। यदि पिछली शताब्दी से लगाकर अभी तक के कुछ पत्रो का संकलन किया जाय तो हमे गद्य के परिवर्तित रूप का ज्ञान सहज हो सकता है। मध्यवर्गीय मालवीय तो आज भी जहाँ मालवी का प्रयोग आवश्यक है वहाँ निस्संकोच उसमे लिखा-पढ़ी करते है। शिक्षितो का इस ओर जब से ध्यान गया है, विवाह की पत्रिकाओं मे कवि-सम्मेलनो के निमन्त्रणो मे, तथा ग्राम के कार्य-क्रमो आदि मे स्थानीय भाषा के माध्यम का फैशन-सा चल पडा है।

अन्त मे मालवी के आधुनिक गद्य के सम्बन्ध मे हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि वह पुष्ट नही है। नवोत्थान का वाहक साहित्य पहले पद्य मे ही अधिक परिपुष्ट होता है। यह मालवी मे भी दीख पडता है।

पद्य

पद्य की दृष्टि से मालवी का आधुनिक साहित्य काफी समृद्ध हो रहा है। श्री सुखराम द्वारा लिखित 'ललितादेवी का विवाह' और 'रुक्मिणी मंगल' (निमाडी) तथा आगर के श्री मुकुन्दराम नानूराम एवं शंकरलालजी की लावनियों से आरम्भ होकर नन्दकिशोरजी की हास्यरसी पुस्तकें 'पंडत पच्चीसी' एवं 'खटमल बत्तीसी' से होते हुए 'युगल विनोद' (युगलकिशोर, शाजापुर) एवं बालाराम पटवारी (नागदा) की 'किरसानी कीचड' तक की पीढ़ी का पद्य सहज लेखन की प्रवृत्ति का द्योतक है। इस सिलसिले मे आधुनिक गद्य के आरम्भकर्ता पन्नालाल नायब का स्थान भी है। उनकी कविता-मे गद्य की भाँति ही ग्रामीण हास्य की छटा मिलती है। 'गोरा' नामक कविता

१. सन् १९२८ के लगभग श्री दीनानाथ व्यास ने भी मालवी-कहानियाँ लिखने का प्रयत्न किया था। 'मालवी खटला' नामक उनकी कहानी उन्हीं दिनों 'जयाजी प्रताप' (लश्कर) में प्रकाशित भी हुई थी।

की कुछ पँक्तियाँ देखिए :

गोरा था जद होरा था, सक्कर म्हाने मळती थी ।
नुकता नोता जात न्यात में, थेल्या-थेल्या गळती थी ॥
दूध भाव मे भी मळतो थो, साळ घराँ में सळती थी ।
होळा, उम्बी, भक्या, धक्या, जान भिखारी पळती थी ॥
वना खरच छाती चळती थी, हात हथेली कळती थी ।
अब कई धरती पड़ी वाजणी, पेलाँ केसी फलती थी ॥

पुरातन मे 'सुख का वास' देखकर आधुनिक के प्रति कुढ़कर उसका मजाक उडाने की प्रवृत्ति अभी तक कुछ वृद्ध कवियो मे मौजूद है । 'नायब' जी के अतिरिक्त मालवी के दूसरे कवियो मे इस दृष्टि से उज्जैन के शालिग्राम जी मास्टर, बालाराम पटवारी और युगलकिशोरजी के नाम लिये जा सकते है । इसमे सन्देह नही कि युगलकिशोरजी को छोडकर उक्त सभी कवियो की भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है । छन्द का प्रवाह उत्तम और भावो की अभिव्यक्ति प्रभावशाली है । युगलकिशोरजी की कविताओं पर राजनीति ने जो प्रभाव डाला है उसके परिमाण स्वरूप भावो का स्तर गिर गया है । प्रोपेगेण्डा-प्रवृत्ति का रूप हमे उनके राजनीति मे प्रभावित कविताओ मे मिलता है । 'युगल विनोद' की कविताएँ, जो राजनीति से परे हैं, अवश्य प्रशंसनीय है । 'श्रावणी', 'दसेरो', 'दीवाली' 'तुलसीदास' आदि कविताएँ सुन्दर हैं ।

मालवी-पद्य में नये उन्मेष से नवीन प्रवृत्ति को लाने का श्रेय साँवेर (इन्दौर) निवासी श्री आनन्दराव दुबे को है ।

कविता के रूढ़िगत छन्द से ऊपर उठकर श्री दुबे ने पहली बार मालवी-गीतो को अपनी ऊँची आवाज मे गाकर प्रेरणा का अतुलित संचार किया । स्वयं दुबेजी मे प्रेरणा गाँव के वातावरण, कुटुम्बीय आत्मीयता और लोगों के सम्पर्क से आई । छोटे-छोटे गीतो के अतिरिक्त वर्णन-प्रधान कविता का श्रीगणेश जिस ढंग मे आपने किया उसका प्रभाव मालवी के कुछ कवियो पर ऐसा पडा है कि जो शीघ्र ही छूटने वाला नही है । मालवी के क्षेत्र मे

श्री दुबे के पूर्व नवयुवक कवि 'तोमर' के मालवी-गीत लोगों में प्रचलित थे। बीच में तोमरजी कुछ समय तक मौन रहे और अब पुनः सामने आ रहे है। दुबेजी इस संक्रान्ति-काल में धरती की सुगन्ध लेकर प्रकट हुए। यद्यपि उनका कोई संग्रह अभी तक प्रकाश में नही आया है, तथापि फुटंकर कविताओं ने लेखको और कवियों को ही प्रभावित नहीं किया, लोगो के मन पर भी गहरा असर किया है। 'बसन्त्या बरसात अईगी रे', रामाजी 'रई ग्या ने रेलजाती री', 'असाबेटा नागडा', 'सर चलाँ रे', 'नाना की लाड़ी', 'हूँ अदड ईग्यो', 'कुँवारो नानो' आदि कविताएँ लोगो मे बहुत प्रचलित है। आपमे गति और भाव-बोझिलता का समन्वय हुआ है। ग्रामीणो के मन को छूने वाली उक्तियाँ और मुहावरे कविताओ की पंक्तियो मे बिखरे हुए है। वातावरण पैदा करने की क्षमता श्री दुबे में उल्लेखनीय है। 'हूँ अदड़ईग्यो' नामक कविता मे गॉव का एक किसान किसी मेम साहब की साइकिल से टकरा जाता है। उसी प्रसंग का चित्र है :

'म्हन सोच्यो कोई है मेम,
पण झूठो निकल्यो म्हारो भेम।
मेम बापड़ी क्यो आवेगी,
ऊई तो यॉं से न्हाटी गई।
सो बरस मे माल मुसालो,
सगळो यॉं को चाटी गई।
साँम भी लेणे ना पायो थे,
बई सिकल गई अई पास।
झम्नाटा गन्नाटा खाती,
टणन् टणन् घंटी टणकाती।
फिरे फिरकनी पंजा छीलण्या,
हूँ जँई जऊँ तो वा ऊँई आवे
अँई-ऊँई अँई-ऊँई हात हलावे।
हूँ सरक्यो तो वा अदड़ाणी

अरे बापरे मारया-मारया ।
देख-देख बई बचा-बचा बई
अरे राम रे पड़या-पड़या ।
म्हारी गलती नी हे बई वो, हूँ लाग्यो यूँ पछताणे ।
की को गलती कितरी गलती, हूँ जाणूँ कां वा जाणे ॥'

दुबेजी की कविताओं से पहले-पहल मालवी मे व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के प्रयोग का आरम्भ होता है । गॉव के प्रतिनिधि चरित्र उनके नाम-मात्र से पहचाने जाते है, जिनके सम्बन्ध मे हमारे मन मे पहले से ही पूर्वग्रह होते है । ऐसे पूर्वग्रहों को जाग्रत करने वाले नामो को कविता मे प्रयुक्त करने मात्र से ही सुनने वाले समुदाय के मन मे विषय के प्रति नैकट्य का भाव उत्पन्न हो जाता है । नामों की यह परम्परा श्री दुबे के समकालीन कुछ कवियों ने अपनाई भी है ।

श्री मदनमोहन व्यास (टोक) आनन्दराव दुबे की परम्परा मे स्थान पाते है । **'म्हारो नाम बाल्या हे', 'मालवा की नानी , 'मालवा की जातरा'** आदि कविताएँ लोगो के मुँह पर है । यहाँ तक कि जिस प्रकार श्री दुबे **'रामजी रईत्या ने रेल जाती री'** से पहचाने जाते है उसी प्रकार **'म्हारो नाम बालो हे'** श्री मदन व्यास की पहचान दिलाने वाली रचना है । इन कवियो ने अपनी वर्णन-प्रधान पद्धति से मालवा के जीवन के सीधे-सादे चित्र प्रस्तुत किये है । व्यक्तिवाचक संज्ञाओं की प्रवृत्ति श्री मदन व्यास ने भी अपनाई । उनकी कविता मे यद्यपि नामो की भरमार नही होती पर चित्रो को प्रस्तुत करने को बँधी-बँधाई शब्द-योजना अवश्य होती है । दुबे-जैसी मस्ती व्यास मे नही है । व्यास केवल कविता के छन्द और ढंग मे ही दुबे के अनुकरणकर्ता है । विषय-वस्तु की दृष्टि से जीवन की कटुता और दैन्य का चित्र व्यास ने हृदय से किया है । दुबे मे आन्तरिक करुणा है—अपने व्यापक स्वरूप मे । व्यास मे वही करुणा गॉवो के निम्न वर्ग के प्रति अधिक शक्तिपूर्ण है । **'म्हारो नाम बाल्यो हे'** शीर्षक कविता मे गॉव के एक ढोर चराने वाले बालक की जीवन-गाथा है । **'मालवा की नानी'** एक

बालिका के जीवन-दैन्य का चित्र है। सामयिक विषयों पर भी व्यास की लेखनी चली है। ग्राम-पंचायत, चुनाव, दीपावली, होली आदि पर उनकी रचनाएँ उल्लेखनीय है। हाल ही मे 'हम लोग' शीर्षक कविता श्री व्यास की लेखनी से प्रसूत हुई है। कविता वर्तमान राजनीति को अपने मे समेटे हुए पूरे जोश के साथ उठती है। खेतिहर मानव का विश्वास और व्यर्थ के सामाजिक और राजनीतिक ढोंग का विरोध कविता की कड़ियो मे बँधा है। उसे मालूम है :

'धरती कोई कागद नी जीपे लिखी कलम से उगड़ेगा ।
यों तो हल की रेख मँडेगी, जभीज बिगड़ी सुधरेगा ॥'

मुहावरो के प्रयोग भी मदन व्यास की कविता मे स्वाभाविक हो गए हैं। अपने देश की वर्तमान दुर्व्यवस्था का चित्र इन पंक्तियो मे देखिए :

अब हमके अपणा हक मालम, आज पड़ीग्या साँचा—
हमने भणी लिखी ने जूना-नवा लेख सब बाँच्या ।
नवी पार्टी, नवा पेंतरा; नवी-नवी जोड़ी जम्मात —
लालच का आन्दोलन उपजे, नवी-नवी होवे कुचमात।
कोई कोई की नी सुणे, 'ढोलकी अपणी-अपणी सभी बजइरया।
या केसी कँई राजनीति हे ? अपणा-अपणा मूँडे बइरया।
नई की बणी बरात सभी ठाकर हुइग्या तम बराती,
आँदो अलग आरती गावे बेरो गइरयो परबाती ।
रस्ता की कोई बात करेनी, उल्टी-उल्टी सोचेगा—
इस तरे ता यो संग कदीनी बदरीनाथ तक पोचेगो ।
अरे राम पिराणा खेंचा से तो गाडी आज अड़ीगी --
अब तक नी समजा था, पण अब हमके समज पड़ीगी ।

रेखांकित पंक्तियो मे मुहावरो का प्रयोग किस तरह किया गया है यह देखने ही योग्य है। मदन व्यास ने हाल ही लोक-गीत की शैली पर कुछ नये छन्द दिये है। रमिया की टेक वाले एक फाग की इन पंक्तियो मे किसान की मस्ती को देखिए :

'धरती मा ने धान उगायो ।
सब मिली नं खाओ खिलावो, रसिया ।

× × ×

गऊँ ने कपास चणा भी आया
चलो नाचो गाओ मौज मनाओ, रसिया ।'

इन कवियों की श्रेणी में गिरवरसिंह 'भँवर' नई शैली के प्रणेता हैं, जो अपना स्वतन्त्र ढंग लेकर अवतरित हुए। राजस्थानी, मालवी और निमाड़ी के रस को उन्होंने इस तरह घोला है कि सभी विभेद उनके लिए कठिन नहीं जान पड़ते। लोक-गीत-शैली का आरम्भ हम उन्हींसे स्वीकार करते हैं। मदन व्यास पर जो प्रभाव है वह वस्तुतः उन्हींकी रचनाओं से आया प्रतीत होता है। गुजराती गरबियों की धुनों पर 'चौमासा' और अन्य प्रेम-कविताएँ उल्लेखनीय रचनाएँ हैं, जिनके लिए 'भँवर' प्रसिद्ध हैं। 'भँवर' में रंग का प्रभाव, और सूक्ष्म भावों की पकड़ खूब है। भाषा पर यथेष्ट अधिकार भँवर के लिए काव्य में वरदान सिद्ध हुआ है। प्रकृति का चित्रण उनमें प्रतिबिम्बात्मक है। नारी के हृदय की विरह-व्यथा प्रकृति के अंक में ही उद्दीप्त हुई है। **'पियाजी मानो म्हारी बात'** कविता की निम्न पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा रही हैं :

'हरो-हरो यो खेल हमारो, रात जिकमें चंदो आवे,
ओर डागला पे बेटी नं रोज चाँदणी गाणो गावे,
मोर मोरनी ओर पपइया अपणा जोडा से खेले,
अरे तमारा मन की राणी कद से यो दुखड़ा झेले।'

'भँवर कां' 'केसरिया फाग' नामक कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। 'भँवर' की अनुरूपता लेकर प्रकट होने वाले नवोदित कवियों में हरीश निगम हैं। उनकी **'टेगड़ी कबूब खायगी'** कविता 'भँवर' की **'चली साब बना में'** की तरह ही मालवा में प्रख्यात है।

स्वयं प्रकाश उपाध्याय और प्रकाश उप्पल 'भँवर' के बाद काव्य के क्षेत्र में आए। श्री उपाध्याय की गति शिथिल रही और श्री उप्पल अपने को

मालवी के क्षेत्र में खींचते रहे हैं। आपकी भाषा में परिमार्जन और स्वाभाविकता का अभाव है। यह कमी श्री भगवन्तशरण जौहरी की कविताओं में भी लक्षित हुई, जब कि उन्होंने मालवी में लिखने का प्रयास किया। **'म्हारा मन में हूक उठे जद'** कविता में जौहरी जी का भाषा-शैथिल्य प्रकट होता है। उप्पल में उसकी मात्रा उतनी नहीं है। श्रीनिवास जोशी ने जब पद्य लिखने का प्रयत्न किया तो उसी प्रकार की अस्वाभाविकता प्रतीत हुई है। **'मन्त्री म्हारा लाडला'** यद्यपि मालवा में गाये जाने वाले 'संजा' के गीतों के छन्द में है तथापि उसमें प्रभावहीनता लक्षणीय है। मजदूर-कवि मानसिंह 'राही' इन सबसे परे है। उसके प्रयोग सीधी-सादी भाषा में मन को चुभने वाले सिद्ध हुए हैं। यद्यपि मानसिंह 'राही' ने अधिक नहीं लिखा, फिर भी **'भारी करी राम'**-जैसी उनकी कविताएँ मजदूर-क्षेत्र में बार-बार पढ़ी जाती है। श्री सूर्य नारायण व्यास ने 'मालव-सुत' उपनाम से 'मेघदूत' का मालवी अनुवाद किया है। पुस्तकाकार रूप में 'मालवी कविताएँ' (भाग एक) नामक संग्रह मालवा के कई आधुनिक कवियों का प्रतिनिधित्व करता है। नये कवियों की श्रेणी में श्री बसन्तीलाल बंब, सिद्धेश्वर सेन (उज्जैन), धीरेन्द्र ओझा (तराना), गिरजेश, 'पहाड़ी' (कंजाडी), शिवकुमार उपाध्याय (तराना), प्रेमनारायण सोनी (शाजापुर), राजपाल आर्य (इन्दौर), शशि भोगलेकर (रतलाम), उत्सवलाल तिवारी (खाचरोद), घासीराम वर्मा (देवास), गेंदालाल राजावत (उज्जैन), रमाशंकर शर्मा (उज्जैन), शिवशंकर शर्मा (इन्दौर) के नाम उल्लेखनीय हैं। 'गांधी-मानस' के लेखक श्री नटवरलाल 'स्नेही' ने भी मालवी में कुछ रचनाएँ की हैं, जो वास्तव में प्रौढ और परिमार्जित भाषा में है।

मालवी का आधुनिक पद्य-साहित्य विकास की दिशा में है। लोक-गीतों के प्रयोग की बात जो ऊपर कही गई है इन दिनों कतिपय कवियों द्वारा अपनाई जा रही है। मन्दसौर के श्री बैरागी को इसमें बहुत सफलता प्राप्त हो रही है। फिर भी नये प्रयोगों की आवश्यकता है। परम्परा के पीछे चलने का आग्रह कम होना चाहिए और नये विषयों को नये उन्मेष के

साथ प्रस्तुत करना चाहिए। मालवी का जो स्वरूप सहज ग्रामीण शब्दो के माध्यम से जितना अच्छी तरह से व्यक्त हो पाता है उतना शहरी मालवी मे नही।

पत्र-पत्रिकाएँ

मध्यभारत के निर्माण के पूर्व देवास रियासत के साप्ताहिक 'मार्तण्ड' तथा ग्वालियर के 'जयाजी प्रताप' (आजकल 'मध्यभारत सन्देश') मे मालवी की रचनाएँ यदा-कदा प्रकाशित होती रही हैं। इन्दौर की 'वीणा' (मासिक) और उज्जैन के 'विक्रम' (मासिक) का सहयोग भी इस दृष्टि से बहुत रहा। १६५३ के प्रारम्भ मे उज्जैन मे विशुद्ध मालवी के साप्ताहिक 'महामालव' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था, जो कुछ समय के पश्चात् बन्द हो गया। इन्दौर, उज्जैन और ग्वालियर के दैनिको मे मालवी की रचनाएं आजकल भी प्रायः छपती रहती है। निमाड-क्षेत्र से 'निमाड' पाक्षिक भी स्थानीय भाषा की रचनाओ को यथोचित प्रोत्साहन देता रहता है। मालवी के एक स्वतन्त्र पत्र की आवश्यकता काफी दिनो से अनुभव की जा रही है। उसके होने से हम वर्तमान गति-विधि का सही-सही रूप पहचानने मे समर्थ हो सकेंगे।

: ७ :

उपसंहार

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—"आधुनिक भारत की संस्कृति एक ऐसे शतदल कमल के साथ उपमित की जा सकती है, जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तिक भाषा और उसकी साहित्य-संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा की हानि होगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तिक बोलियाँ, जिनमें साहित्य-सृष्टि हुई हो, अपने-अपने घर की रानी बनकर रहें। प्रान्तिक जन-गण की हार्दिक चिन्ता की प्रकाश भूमि-स्वरूप कविता की भाषा होकर रहे और आधुनिक भाषाओं के हार की मध्यमणि बनकर हिन्दी विराजती रहे।"

प्रान्तीय भाषाओं के विकास से हिन्दी के अहित की चिन्ता करने वाले मस्तिष्कों के लिए उक्त उद्धरण कुछ समाधानप्रद सिद्ध हो सकता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् जनपद की भाषाओं और बोलियों का प्रश्न अनेक अंशों में हिन्दी के लिए अनिवार्य प्रतीत हो रहा है। 'जनपद-आन्दोलन' के रूप में यह चेतना उठती जा रही है। यद्यपि अवैज्ञानिक तर्कों की आड़ में भ्रान्तियाँ भी इस तेजी से फैलती रही है कि मानो प्रान्तीय भाषाओं के विकास से हिन्दी का नाश ही हो जायगा। हिन्दी का इतिहास जबकि स्वयं अपने विकास की कड़ियों को राजस्थान, ब्रज, अवधी, मैथिली, बुन्देली आदि से जोड़ता जा रहा है, तब इस प्रकार के विचारों का होना

केवल प्रतिगामी प्रवृत्तियों का पनपना है। यह बात यदि हम स्वस्थ दृष्टि-कोण से समझने का प्रयत्न करें तो निश्चय ही हमे इसमें हिन्दी के उत्थान के साथ-साथ अपने राष्ट्रीय जीवन के सास्कृतिक विकास की योजना भी निहित ज्ञात होगी। हिन्दी तो स्पष्ट ही विभिन्न प्रान्तीय बोलियो और भाषाओं के योग से स्वाभाविक तौर पर बनी हुई भाषा है। हिन्दी ने अनेक प्रकार के शब्दो और अभिव्यक्तियों को अपने मे आत्मसात् किया है। क्या हम इस सहज आदान-प्रदान के क्रम को रोक दे ? यदि हमने ऐसा करने का प्रयत्न किया तो वह दूध, जो मातृ-भाषाओ (बोलियो) से हिन्दी में पहुँच रहा है, बन्द हो जायगा और उसके द्वारा स्पन्दित हिन्दी का मुखरित रूप कुम्हला जायगा। मातृ-भाषाओ या जनपदो की बोलियो मे उभरती हुई चेतना हिन्दी के विरुद्ध किसी भाँति भी नहीं है। भाषाओं के विकास से जनपदीय चेतना का विकास सम्बद्ध है। इस विकास मे राष्ट्रीयता की समुन्नत भावना और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को बढ़ने का अवसर मिलता है। इस प्रकार यदि जनपदो मे यह प्रवृत्ति बढ़ती है तो सम्पूर्ण देश के लिए और हिन्दी के लिए हानिकर नहीं हो सकती। राजकीय दृष्टि से हमारा देश संघीय शासन है। जहाँ तक जातीय चेतना के उत्थान और मातृ-भाषाओ की स्वतन्त्रता की सुरक्षा का प्रश्न है उसे केवल हिन्दी के नाम से ही दबाया जाना अनुचित है। इस प्रश्न को हमे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी तो सर्व सम्मति से मान्य राष्ट्रभाषा है। वही हमारे अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा है। किन्तु मातृ-भाषाओ के विकास की माँग करने वाले लोगों ने कभी हिन्दी का विरोध किया है ? वे तो केवल इतना ही चाहते हैं कि हिन्दी के साथ उन्हे भी अपनी भाषा के विकास का अवसर दिया जाय। हिन्दी यदि बड़ी बहन है तो उसको अपनी छोटी बहनों के व्यक्तित्व के सँवारने से क्या आपत्ति हो सकती है। मातृ-भाषाएँ 'खड़ी बोली की दूध-पीती बेटियाँ नहीं हैं, बल्कि वयस्-प्राप्त बहनें हैं; और वे स्वयं

अपनी गृहस्थी बसाने का निश्चय कर सकती हैं।''[1]

भाषाओं के स्वतन्त्र विकास के प्रश्न पर अनेक भ्रान्तियों के पैदा होने के कारणों पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं मे काफी सामग्री प्रकाशित हुई है। जनपदीय चेतना के मूल में हिन्दी के अन्तर्गत महा पण्डित राहुल साकृत्यायन ने 'मातृभाषाओं का प्रश्न',[2] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'जनपद कल्याणी योजना'[3] और बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विकेन्द्रीकरण'[4] योजनाएँ दी हैं। इन योजनाओं मे मातृ-भाषाओं के प्रश्न पर काफी मन्थन किया गया है। संयुक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक संघ की कौंसिल ने इस विषय की अनिवार्यता को समझकर श्री शिवदानसिंह चौहान को 'जनपदीय भाषाओं के प्रश्न' पर विस्तृत रिपार्ट तैयार करने के लिए आग्रह किया था। उस रिपार्ट मे सभी तर्कों और योजनाओं पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। यहाँ उन सब बातो का जिक्र करना सम्भव नहीं, किन्तु इतना कह देना जरूरी है कि प्रान्तीय भाषाओं के विकास से हिन्दी को यथेष्ट लाभ ही होगा। **"बोलियों में जहाँ भाषा को विभूषित करने की सामर्थ्य है, वहाँ उनके प्रदेश के संस्कारों की परम्परा का बीज भी निहित है, जो हमारे इतिहास और संस्कृति के स्रोत हैं। इन स्रोतों को सजीव रखना हमारे लिए उतना ही आवश्यक है, जितना जीवन। इस पर भी इन बोलियों में एक ऐसा सुदृढ़ स्नेह-सूत्र गुँथा हुआ है कि वे पृथक् दिखाई देते हुए भी एक रूप बनी हुई रहती हैं। वह है संस्कृति का आधार, जिसमें दिखाई देने वाली विभिन्नता में भी एकता सुरक्षित है।''[5]** अतः हमें बोलियों या जनपदीय भाषाओं से भय खाने की

१. 'जनपदीय भाषाओं का प्रश्न', शिवदानसिंह चौहान, पृष्ठ २५६।

२. 'हंस, सितम्बर', १९४३।

३. 'पृथ्वी पुत्र', (१९४९)।

४. 'विशाल भारत', फरवरी, १९३४।

५. देखिए सम्पादकीय टिप्पणी, 'विक्रम', नवम्बर, १९५२।

आवश्यकता नही। हिन्दी की भित्ति तो ये ही भाषाएँ है, जिनसे वह अपने वर्तमान अभाव को दूर करेगी। नए-नए शब्द, मुहावरे, अभिव्यक्ति-पद, और व्यञ्जना-शक्ति उसे इन्ही 'गँवारू' भाषाओं से मिलेगी। अतः इसमें सन्देह नही कि हानि की अपेक्षा ये भाषाएँ तो हिन्दी के लिए कल्याणकारी हैं। इस दृष्टि से मालवी और उसके साहित्य के विकास का प्रश्न अपनी उन्नति के साथ-साथ हिन्दी की उन्नति मे भी योगदायी सिद्ध होगा।

पिछले पृष्ठो में मालवी और उसके साहित्य पर संक्षेप मे विचार किया गया है। किन्तु कार्य यही समाप्त नहीं हो जाता। मालवी के सम्बन्ध मे अभी अनेक प्रश्न शेष है। मालवी के प्राचीन साहित्य का अनुसन्धान, लुप्त होते हुए लोक-साहित्य का संग्रह और आधुनिक साहित्य के विकास की आवश्यकताएँ लक्षणीय है। मालवा मे ऐसे अनेक पुराने घर है, जिनमे हस्त-लिखित पोथियाँ दबी हुई हैं। रियासतो के भाण्डार-ग्रहो मे, माडलिकों के यहाँ और ठिकानों मे पुरानी सामग्री अवश्य विद्यमान है। यदि शासन-संस्थाओ के द्वारा ऐसी सामग्री के संकलन और उस पर यथोचित अनुसन्धान के लिए सुविधाएँ प्रदान करे तो बहुत-कुछ हो सकता है। संक्षेप मे हमे निम्नांकित अभावो को दूर करने की योजनाएँ शीघ्र ही कार्यान्वित करनी चाहिएँ।

मालवी लोक-साहित्य

मालवा की भूमि मे बसने वाली जनता के पास अपार सामग्री है, जिसे परम्परा से वह अपनाती चली आती है। स्त्रियों के विविध गीत, लोकोन्मुखी सन्त-साहित्य, त्योहारों और उत्सवों के लम्बे-लम्बे गीत-प्रबन्ध, लोक-कथाएँ, लोकोक्तियाँ और अन्य कितनी ही प्रकार की अभिव्यक्त होती रहने वाली कंठावस्थित साहित्य-सम्पत्ति का संग्रह जरूरी है। मालवा की लोक-वार्ता (Folklore) केवल थोड़े-से संग्रह-मात्र से नही जानी जा सकती। उसके लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से संग्राहको को जुटने की आवश्यकता है। सामग्री जैसे-जैसे प्राप्त होती जाय वैसे-ही-वैसे उसके प्रकाशन का

सिलसिला भी चलना चाहिए। फिर भी लगभग हजार-डेढ़-हजार गीतों का एक प्रामाणिक संग्रह, लोकोक्तियो और लोक-कथाओ के संग्रह तथा रीति-रिवाजो पर प्रकाश डालने वाली पुस्तको का प्रकाशन निकट भविष्य मे पहले हो जाना चाहिए, जिससे कि मालवी लोक-साहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान के लिए मार्ग प्रशस्त हो सके।

ध्वनि-संकलन

गीतो की धुनो का रिकाडिग भी ध्वनि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य है। वैसे कुमार गन्धर्व ने अनेक गीतो की स्वर-लिपियॉ तैयार की हैं। रिकार्डिग के माध्यम से यह कार्य और भी सरल हो जायगा। कहा जाता है कि इन्दौर के किसी प्रभाकर चिबूरे नामक सज्जन ने कुछ मालवी लोक-गीतो की स्वर-लिपियाँ बनाई थी, पर वे अब उपलब्ध नहीं है। इस विषय मे गम्भीरता पूर्वक प्रयास करने की आवश्यकता है। ये ही स्वर-लिपियाँ और रिकार्डस् आगे आने वाले अनुसन्धान-कर्ताओ के लिए एवं भारतीय संगीत को लोक-संगीत के निकट लाने मे सहायक सिद्ध होगे।

हमारा दृष्टिकोण 'एकेडेमिक' तो हो ही, पर उसे रूढ़िगत सिद्धान्तो का पल्ला पकड़कर नही चलना है। यदि नये सिद्धान्तो से हम नई बातो की खोज सरलता पूर्वक कर सकते हों तो हमें उन्हे अपनाना चाहिए। लोक-गीत और लोक-साहित्य के सम्बन्ध मे हम यहाँ तक मानकर न रुक जायॅ कि उनमें जन-जीवन के दर्शन होते हैं, अपितु उनमे इतिहास और मन के गूढ़ भेदों को प्रकट करने की क्षमता और साहित्य तथा भाषा-विज्ञान को पुष्ट करने लिए यथेष्ट सामग्री है।

भाषा-पर्यवेक्षण

मालवी भाषा और उसके भेदो का विस्तार पूर्वक पर्यवेक्षण भी अपेक्षित है। इससे हमे उलझनों को सुलझाने और नये ज्ञान को प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। खोज करने वाले जिज्ञासुओ को मालवा के भिन्न-भिन्न स्थानो मे जाकर भाषा की दृष्टि से प्रचलित भेदो के मानचित्र तैयार करके

उन पर विवेचन करना चाहिए। थोड़े परिश्रम के पश्चात् हम बहुत-कुछ कर सकेंगे। भाषा-पर्यवेक्षण के साथ मालवी के व्याकरण की अनिवार्यता जुड़ी हुई है। प्रामाणिक मालवी के विकास के लिए व्याकरण की सामान्य--रूपरेखा तो प्रथम प्रकाश मे आ ही जानी चाहिए।

अनुसन्धानात्मक प्रवृत्तियाँ

इन अपेक्षाओ का निराकरण तभी सम्भव है जब संग्राहकों के साथ अनुसन्धान मे रुचि रखने वाले साहित्यिक एवं जिज्ञासु भी हों। यह प्रसन्नता का विषय है कि श्री चिन्तामणि उपाध्याय मालवी-गीतो पर अनुसन्धान कर रहे है। नागपुर-विश्वविद्यालय ने मालवी-गीतो-सम्बन्धी उनका विषय स्वीकार किया है और वे डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' की देख-रेख में कार्य करने मे प्रवृत्त हो गए हैं। भाषा-विषयक अनुसन्धान के लिए तथा समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से मालवी और उसमें अभिव्यक्त मालवी-जीवन पर काफी लिखा जा सकता है। मालवी लोक-साहित्य की राजस्थानी, गुजराती, बुन्देलखण्डी आदि निकटवर्ती भाषाओ के साहित्य के साथ तुलना करने की प्रवृत्ति अनुसन्धान के अन्तर्गत ही आती है। अभी ऐसा प्रयास हुआ नही है। वह भाषाओ मे निहित एकता-सूत्र को प्रस्तुत करने का उचित मार्ग है।

समितियाँ

इस ओर संगठित प्रयास करने से सफलता शीघ्र मिल सकती है। अतएव स्थान-स्थान पर 'लोक' और उसके 'साहित्य' के प्रति रुचि रखने वाले लोगों की समितियाँ बनाई जायँ। ऐसी समितियो को शासन से सहायता मिलनी चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो उनके द्वारा संग्रहीत साहित्य की सुरक्षा के लिए प्रबन्ध करना चाहिए। सन् १९५३ मे 'मालव-लोक-साहित्य-परिषद्' (उज्जैन) ने जब निमाड-क्षेत्र मे जाकर वहाँ की भाषा और संस्कृति का पर्यवेक्षण किया तब शासन ने आर्थिक सहायता देकर परिषद् के काम मे सहयोग दिया था। निमाड-पर्यवेक्षण से प्रेरणा ग्रहण करके स्वयं निमाड़-

क्षेत्र के साहित्यिकों ने 'निमाड़ लोक-साहित्य-परिषद्' की स्थापना की है, जो हर्ष का विषय है। निमाड के सन्त सिगा का साहित्य निर्गुण धारा के कवियों के साहित्य की कडी है। उसका प्रामाणिक संग्रह उनकी जीवनी के साथ प्रकाश मे आना चाहिए। यह काम नव स्थापित परिषद् अच्छी तरह से कर सकती है। संग्रह का कार्य छोटा नही है, इसलिए ऐसी और भी परिषदें होनी चाहिएँ, पर उनका सम्बद्धीकरण प्रमुख संस्था से बना रहे।

पत्र

प्रकाशन के साथ-समय प्रचार के लिए एक साप्ताहिक या पाक्षिक पत्र भी विशुद्ध मालवी भाषा मे प्रकाशित होना चाहिए। आधुनिक मालवी की रचनाओं और संग्रहीत साहित्य की जानकारी आदि के लिए उसकी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। मालवी के पत्र से कार्य करने की प्रवृत्ति को प्रेरणा तो मिलेगी ही, साथ ही एकता का सूत्र भी दृढ़ हो सकेगा।

अस्तु, प्रत्येक दिशा मे योजनाबद्ध कार्य हो। वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने जिन साधनों को सुलभ बना दिया है, उनका प्रयोग भी किया जाय।

मालवी मालवा की अपनी भाषा है। उसे सॅवारना और पनपाना इसलिए अनिवार्य है कि उसमे जन-जीवन की चेतना के तत्त्व निहित हैं। अपनी भाषा का माध्यम पाकर जन के जीवन मे जो नई चेतना उठ रही है वही चेतना जनपद की चेतना है।

परिशिष्ट

: अ :

लोक-गीत (मालवा)

'साजन'

साजन समदरिया का ओले पेले पार
साजन खेले सोवटा।
साजन कुण हार्‌या कुण जीत्या
हार्‌या-हार्‌या लाड़ी का बाप
(अमुकजी) जीत्या।
घर मे से बऊ लाड़ी बोल्या—
"हारता-हारता काँकड़िया रा खेत मारूजी
म्हारी राजल बेटी क्यों हार्‌या ?
हारता-हारता डाबा माय का गैणाँ मारूजी
म्हारी राजल बेटी क्यों हार्‌या ?
हारता-हारता चढ़वारी तेजी म्हारा मारूजी
म्हारी राजल बेटी क्यों हार्‌या ?
हारता-हारता गुवाडा माय की लछमी मारूजी
म्हारी राजल बेटी क्यो हार्‌या ?
हारता-हारता चार भवन ना लोग मारूजी

म्हारी राजल बेटी क्यों हार्‌या
हारता-हारता चार जना मे बोली माऱूजी
म्हारी राजल बेटी क्यों हार्‌या ?"

'मामेरा'

गाडी तो रड़की रेत मे रे बीरा
उड़ रही गगना धूल ।
चालो म्हारा छोहरी उतावला रे
म्हारी बेन्या बई जोवे वाट ।
छोहरी का चमक्या सींगडा रे
म्हारा भतीजा को झगल्यो झाग ।
भावज बई को चमक्यो चूड़लो रे
म्हारा बीरा जी का पचरँग पाग ।
काका बाबा म्हारा अत घणा रे
म्हारा गोयरे होना जाय ।
माडी को जायो बीरो एकलोरे
म्हारी बरद उजाल्‌या जाय ।[1]

: आ :

"बस 'बसन्त्या' बरसात अई गई रे"

बस 'बसंत्या' बरसात अई गई रे ।
जीवी ने जल जाए जे 'बसंत्या',
जिन्दगी जई री थी,
पण हात अई गई रे ॥
बस बसंत्या बरसात अई गई रे ।

---

1. 'मालवी लोक-गीत' से ।

१

'बसंत्या' बीत्या बरस की याद मत देवाड़,
बात साँची हे कोई सूणे तो म्हारे से केवाड़ ।।
'हूँ' भण्यो नी हूँ लोग म्हारे यूँज ताणे हे,
'उनखे मालम हे'?
गूँगो गोल खाय हे, पण सवाद खे जाणे हे ।।
नी 'साँवत' का मूँडा पे सुर्की थी,
नी 'कनइय्या' के कान में मुर्की थी
नी 'मुनीरा' के माथे टोपी तुर्की थी,
अरे कब लग गाँवा ने रोवाँ,
'कोई जाणें हे'? 'तपत तीस अने रीस'
काँ ओर कसे सई गई रे
बात भूली जय-अब तो बरसात अई गई रे ।।
बस बसंत्या बरसात अई गई रे ।।

२

बेन बापड़ी 'बसन्ती', भई की बाट जोइ री थी।
राखी की रीत सारु, पीयर को मूँडो धोइ री थी ।।
लाख राखी को तेवार थो, पण बीर बेबस थो।
बोदा बरस की पीर पड़ी थी, अरे यो काँको अपजस थो ।।
साँची सावण सुआवणो होतो,
'बसन्ती' गीत फिर गाती।
राखी-कंदोरा ओर पोंची, संग पेड़ा और पतासा,
मन भर लाती ।।
तो बसन्ती रंग लुगड़ो, घागरो घेर को पाती।
ने पेरती ससराल जई-जई रे,
ने केती बीर 'बसंत्या' बरसात अई गई रे ।।
बस बसन्त्या बरसात ।।

३

पुजारी 'परसराम' ने 'तिलोक्यो' तेली अने 'माँग्यो' माली।
पाणी परमेसरा की पोथी पड़ी ने
दीवा मे तेल कूडी ने
झाड़-झाड चडी ने सुगन्धा फूल लातो थो, टाली-टाली ॥
'केश्या' कुमार की क्यों को हे,
बापड़ा का गरीब गदा, ने घर वाली,
पाणी को पतो नी, दरांबड़ी का कां दरमन ?
आँखे अई गई थो जाली ॥
'चेत्या' चमार की तबीयत फिकर से हुई थी माँदी।
बापड़ा ने एकादी पनी साँदी की नी साँदी ॥
लोग ना साँची कईग्या कि,
फिकर फकीर खे भी खई गई रे !
'बसंत्या' फिकर मत कर, अब तो बरसात अई गई रे।
बस बसन्त्या बरसात ॥

४

'लच्छो' लुवार ने कारीगर 'कनइय्या'
सेठ 'सीताराम' खे कई रिया था भइय्या-भइय्या,
साँची कीजो. बखत बिगड़ी हे, अबे भूट की नी हे सइय्या
अबे राजा काँ हे तो पाणी खातर खेत में हल चलावे।
'राम को', आज-कल की राणी पगे-पग खेते रोटी लई जावे ॥
जाण दो या हमारा बस की बात नी, पाणी आवे की नी आवे
हमने 'उज्जणी' करी थी, गाँव ने गाँकर गोया में सेंकी थी।
इतरा में उठी रे धख से काली बादली,
थोडी सेंकी नी थोड़ी काचीज फेंकी थी ॥
छाँटा जोर का आया, सेरा सोर का आया,
पाणी पतरा पे पड़्यो ने पनाल पे आयो।

'पून्यो' पन्द्रा दन में मसी-मसी ने, पनाल्या पाणी से न्हायो ॥
अरे मन हरकई ने, तन का मेल लई गई रे,
बस बसन्त्या ॥

५

'बसंत्या' बरसत अई गई हे, वर माँगी ने कर जे-जे।
'भगवान' बीत्या बरस सरकी कई अब मत करजे॥
मक्का मोज मे थी, जुवार ऊँचो री थी,
कपास सुक की साँस ली ने, साल मस्ती से मची री थी॥
'वा वो काली कोयल', 'थारी राग प्यारी हे'।
'डेंडका' नीं तमारो टर-टर दुनिया से न्यारी हे॥
अरे यो मोर कसा? मोरनी का सामे नाचे!
तो बापड़ो कई बुरो करे, दुनिया में लोग लुगाई का सामे नाचे केनी नाचे!
दुनिया में चारी तरफ चोमासो हे!
पपइय्यो पट्टो फिर बी प्यासो हे॥
घन ओका गया हे, राखणे वाला का तो पण हे।
कोई सुक सरावे, दुख में बी गीत गई गई रे॥
बस बसन्त्या बरसात॥

६

अब मनक की मस्ती देखो,
उनमें से कोई की तस्ती देखो,
अने थोड़ा की हस्ती देखो
पाणी की परताल पड़ी री थी,
'झुझारसींग' झरोका से झाँकी रिया था।
बापड़ा बाप-दादा ने हवेली बणाई दी थी,
ओकां मोल आँकी रिया था॥
अंई-'हीरासींग' हवेली में से ही-हा करीने,
किनी मस्ती से मस्तई रियो थो?

ऊँई–'टिकल्यो', टापरी में से टस्की ने,
किनी तस्ती से तस्तई रियो थो ?
इको काम सरतो थो, पणयो बापड़ो नाहक दूसरा का दुख से मरतो थो
डोल उगाडो थो ने कम्बल खे लत्ता से जोड़यो थो।
पण कोईने चार ऊनी कपड़ा पेरी ने, फिर भी दुशालो अदर से ओड़यो थो
कई शालो ने कई उनाळो, मनखे भेम की बात खई गई रे ॥
बखत पे खेत बो 'बसंत्या', बरसात अई गई रे ॥

७

पूछणे वाला ने पूछयो, 'इना टिकल्या खे या कायकी टेंटस हे' ?
'अने इका पास हे कंई ? तो इतरी एंठस हे'
'हे तो टूटी टापरी ने एक बखत काज दाणा'।
'फिर इका मूँडा पे क्यों मान हे ? ने इकी जिन्दगी में क्यों जान हे ?
या कोई बताओ, जबे जाणा' ॥
केणे वाला ने कई दियो, 'देखो दुशालो मोल में भारी हे।
तो कम्बल तोल में भारी हे ॥
पाणी की बूँद टापरी में टप-टप टपकी री थी।
'टिकल्या' की परणी बेंरा 'टिकली' छोरा खे थप-थप थपकी री थी
पाणी जोर से आयो 'टिकली' ने गीत फिर गायो।
इतरा में झोंपड़ी झाड़ समेत झड़ीगी ।
देखते-देखते बई ने आगे बड़ीगी
लोगना लपक्या 'अरे झोंपड़ी जई री हे'।
'टिकल्यो' मस्ती से बोल्यो 'दुनिया जीती हे,
पपइय्यो तीसो हे ने पपइय्यण फिर भी रीती हे'।
'सुक सींचो' भगवान साँचो बरसात भई गई रे।
बस बसन्त्या बरसात अई गई रे ॥[1]

---

१. आनन्दराव दुबे 'मालवी की कविताएँ' से।

: ३ :

मालवी के तीन रूप

'रतलामी' मालवी

"अणी हिन्दुस्तान मे ज्यादातर खेती ही सब लोग करे है, और यो देश खेती ही को देश है। अणी देश का किसान आपणी खेती भगवान् का भरोसा पर रखे है। अणी वास्ते जद कदी कम पाणी बरसे या कदी पाणी बरसे ही नी तो काल पड़वा सरीखो मौको हो जावे है। पुराणा जमाना मे जणी समय मे राजा लोगाँ को राज थो तो वी लोग भी आपण लोगाँ के चुसता और आपण लोगाँ मे कई दुख दरद है उणके अठी कई तरह से साल सँवार नीं करता था। पण जदी अणी देश को राज आपण लोगाँ के हाथ मे आ गयो, जद आपणी ही सरकार ने आपाँ मे कई दुख दरद होई रया है, ईणा सब दुख-दरद मिटावा वास्ते निगाह दौड़ाई, और पाँच बरस मे आपाँ लोगाँ को दुख दरद जंसु पाणी की कोताई, धान की कम पैदावारी, और भी कई बातों को दुख मिट जावे अणी तरश की बात टहराई, व आपण लोगाँ वा बात बताई, अणी बात मे चम्बल नद सुँ कई-कई और कणी-कणी तरह सुँ फायदो हो सकेगा यो खास करीने बतायो। चॉबल नद सुँ अणी मालवा की व साथ-साथ मारवाड, मेवाड़ का लोगो की खेती और नरी बाताँ की उचॉड होगा।"[1]

'मन्दसौरी' मालवी

बात-की-बात ने करामात-की-करामात ने बोड़ी को काँटो अठारा हाथ। वणी काँटा पर एक कीड़ी बेठी। वा कीडी ब्याणी। वणी के एक ऊँट ब्यो। उ ऊँट अशो ब्यो के वणी के ठाकुरजी ने पगनी वणाया। पण वणी की गर्दन अतरी लम्बी की दी के उ लछमण भूला ती गर्दन लम्बी करे तो रामेशवर जी रूँकड़ा खाई जा।

एक दिन वणी ऊँट ने भूक लागी तो वणी ने गर्दन लम्बी कीदी ने रामेशरजी के राजा का बाग का नाम रूँकड़ा का पत्ता खाइग्यो। अबे

1. चम्बल-बाँध-योजना की प्रचार-विज्ञप्ति से।

रामेशरजी का राजा ने चोकी पेरा वाग मे ब्रेवाड़्या ने अणी चोर को पतो लगाड़्यो पण ऊँट हाते नी आयो। एक दिन फेर वणी ने गर्दन लम्बी की दी। तो एक शपाई ने गर्दन पकडो लीदी। अबे ऊँट दरप्यो ने पाछी गरदन छोटी कीदी तो उ शपाई भी गर्दन के हाते लछमण-भूला में आइग्यो। अबे उ शपाई घवराणो ने ऊँट ती क्यो के हे ऊँट राजा मूँ थारो कई नी वगाड़ूगा मने थू फेर रामेशरजी मे मोकली दे ने थारी एक निशानी मने दई दे। ऊँट ने बाको फाडयोन एक तल काडी ने दी दो और क्यो के अणी तल ने थारा राजा ने दीजे और अणी ने बारा ने बारा चौवीश कोस का घेरा मे बावजे तो अणी तल का फल वह जागा। वणी शपाई ने फेर वा गर्दन पकडी ने उ पाछो वणी के नाम में आइग्यो। फेर वणी ने राजा ती क्यो के राजाशा राजाशा फरयाद है। तो राजा वोल्यो के कई वात है चोर पकडाणा के कोनी तो फेर शपाई ने ऊँट की बात की ने उ तल राजा ने दीदो। राजा ने वारा ने वारा चोवीश कोश का घेरा मे उ तल वायो। उनारा का दना मे वणी तल का रूँकडा के पीदे हाथी बँधवा लागा।...”[1]

आदर्श मालवी

“काल कुँवार सुदी पाँच का दन आपको चिट्ठो म्हारे मिली। बाँची ने गद-गद हुई ग्यो ने जदे मालूम पड़ी कि अरे यो तो कवि-सम्मेलन को नेवती है। अबे क्यो म्हार से केवाडो आँदा के जाणे आँख मिळी ने भय्या पर कस्या पंछी खे पाँख मिली।”

यो जाणी ने कि यो जोग नरा दन में आयो है....अने ऊ भी फिर अवन्तिका मे—म्हारो हिरदो खूब हरक्यो हे साँची श्याम तमारा प्रेम के म्हने अबे परख्यो हे।

भ्युया, जरूर अऊँगा। बजाते ने गाते-गाते दर्शन करूँगा भलई अई ने माथे-माथे। कई करूँ कलम बन्द नी होती—पण म्हारो बेवखत को बेकणो तमारा बखत की बरबादी नी करे वास्ते यॉज कलम बन्द करी

---

१. ‘वीणा’ में प्रकाशित एक कहानी से।

रियो हूँ...''[1]

मालवी के अन्य उदाहरण

(क) ''म्हने पेतॉलीज मालवी ती मोह थो। पण जद से आपरा भराकरया गीद री पोथी देखी म्हने ओर बी बड़ावो मिल्यो नी मालवी नी सेवा करवाने म्हारो मन बड्यो।

मालवी ना लेख, छन्द ने वारतॉ कणी तरे नी होवा च्हइये, जणी की बजू ध्यान ती ने ओशान ती विच्चार करयो जाय।''[2]

(ख) ''उज्जैन गया ने दहापच्चोल ना घाट पे हापडिया ने धोती पसाड़ी ने होणा रूपा ना टीला काड्या। वॉथी मगर मुआ मे आया तो जलेबी खादी। जलेबी खादी ने बाईसा नी हवेली देखी। कतरी मोटी रे दादा के जी को एक-एक खॉबो एक दो लाख को वेगा तो आखी हवेली एक मोर की तो वेगीज।''[3]

(ग) ''चतरभुज माखो! आपने यो-नाम सुन्यो हे? आप इकासे कदी मिल्या हो? नी मिल्या? अबी तक नी मिल्या? तो फिर समजीलो के आप अबी पेदाज नी हुआ।

या बुरो मानने की बात नी हे। बाहेर का बड़ा-बड़ा आदमी हुणखे देखणे सुणणे की इच्छा रखे ने आप घर का बड़ा लोग हुण से नी मिलो! ने क्यो तो वी अपणा यॉकाज हे? या बात जरूर है के यॉ को आदमी यॉज नी पुजाय पण हूँ कू आप चतरभुज का यॉ एक बखत जहने देखो। ने फिर आप हाथ जोड़ी ने पॉव पड़ता हुआ धन्य-धन्य केता बाहरे नी आओ तो म्हारो नाम बदली दीजो।

अरे साहब ऊ आदमी हेज ऐसो। एसी सिप्पत हे उकामें मे के कई कूँ। हूँ बी भोत दिन तक उका बाग में सुणतो रियो। मिलणे की बात हूँ बी आपकी तरेज टालता रियो। पण फिर तो तीन जणा म्हारे खेंचीन वाँ

---

१. आनन्दराव दुबे।

२. हरीश निगम (नागदा)।

३. सूरजप्रसाद सेठी (उज्जैन)।

लइगया । बड़ी तारीफ करी । हूँ खिंचतो चल्यो गयो ।...[१]

(घ) "मालवी बोली मे जो साहित्य है, वो बिखरयो हुवो है, एक जगे नी है, इससे हमखे अपना साहित्य की विशेषता को चैये उतनी भान नही होने पायो है। 'मालव' लोग इस देश मे मोत पुराना जमाना से है, इनको गणतन्त्र इतिहास मे अपनो खास महत्त्व और पुरानीपन रखे है। सिकन्दर का दॉत खट्टा करने वाला मालवी लोग था, महाभारत और पुराण मे मालवी लोगो की कई कथा-गाथा भरी हुई है, तब उनकी भाषा, उनको साहित्य कई पिछड्योज रियो होयेगा, या तो हुईज् नी सके, पर मालवा ने बड़ा उलट-पुलट, हवा का फेर-फार देख्या, ऊमे अपनो साहित्य भी वे बचई नी सक्या, पर जिस अवन्ती भाषा खे मालवा ने जनम दियो और जिससे प्राकृत, अपभ्रंश, महाराष्ट्री आदि पनपो, फैली वा भाषा ज् आज मालवी का नाम से चली आवे है। जो उदाहरण पीछे का मिले है उनमें और आज की मालवी मे मोत फरक नी पड्यो है। जितना फरक नगर और गॉव की बोली मे दिखे है, उतनोज् पुरानी और नई मे है। फिर वी इसमें वोज् ओज्, वोज् शक्ति और विचार खे हृदय का साथ प्रकट करने की क्षमता है।"[२]

: ई :

कबीर का लोक-गीतों पर प्रभाव

कबीर के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने लोक-मानस को अक्षुण्ण रूप से आकर्षित किया। उनके अकाट्य तर्कों और शास्त्रो की मिथ्या बातो का खुला विरोध निम्न जातियो की दलित भावनाओ को सन्तोष देने लगा। उन्हे वाणिज्य-व्यवस्था के नाम पर होने वाले अत्याचारो के घोर प्रतिवाद के लिए कबीर के रूप मे एक प्रतिनिधि मिल गया। कबीर की तरह अन्य सन्तो ने भी निम्नवर्गीय लोक-समाज की हीन भावना का परितोष किया।

१. श्रीनिवास जोशी (बड़नगर)।

२. सूर्यनारायण व्यास (उज्जैन)।

यही कारण है कि जो-कुछ कबीर ने ग्रहण किया वही निम्नवर्गीय दलित जातियों ने अपने गीतों मे ग्रहण किया। चाहे उन्होंने कबीर आदि के सिद्धान्तों को टीक तरह से न समझा हो, पर उनके द्वारा प्रचलित कतिपय संकेतार्थक शब्द उन्होंने ज्यो-के-त्यो अपना लिये। यही कारण है कि उन शब्दों के प्रति एक रहस्यवादी मान्यता भी उनमे बराबर मिलती है।

नीचे हम कुछ ऐसे ही लोक-गीत प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमे कबीर का यथातथ्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। युगों को पार करता हुआ कबीर-पन्थियों द्वारा सन्तो का प्रभाव अभी तक निचली जातियों के आत्म-सन्तोष का साधन बना हुआ है।

१

हाँ ए म्हारी हेली[1] मैं तो पूरबिया उनका देश की
बिना पेड़ एक दरखत ठाढ़ा, छाय नजर नहीं आवे रे
पान-फूल तो दिसे नहीं, बास गगन चढ़ जावे रे
म्हारी हेली...

धरम डाल दोई पंछी बैठा पंख नजर नहीं आवे
उड़के पंछी चला गगन में, राम-नाम लऊ लागी
म्हारी हेली...

बिना पाल एक सरवर भरिया नीर नजर नहीं आवे
मछिया वामें दिसे नहिं रे समदर[2] हिलरा[3] खावे
म्हारी हेली...

पीपल पूजन में गयी अपणा कुवल[4] की लाज
पीपल पूजन हरि मिल्या एक पंथ दोई काज
म्हारी हेली...

पत्तो टूटी डाल से और पतंग उड्या जाय
अबका बिछुड़्या कद मिला, जाय बसा घण दूर
म्हारी हेली...

---

१. साथिन। २. समुद्र। ३. हिलोरा। ४. कुल।

'कबीर-ग्रन्थावली' मे यही भावना एक पद मे मिलती है। पद की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना उचित होगा। पंक्तियाँ है :

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो या पद को करे निबेरा।
तरवर एक पेड़ बिन ठाड़ा, बिना फूल फल लागा।
साखा पत्र कछू नहिं वाके, अष्ट गगन मुख वागा॥
पैर बिन निरति करा दिन बाजे, जिभ्या हीणा गावै।

—इत्यादि

इन गीतों को मालवी-क्षेत्र से प्राप्त किया गया है। सन् १९४९ मे इन पंक्तियो का लेखक ग्राम-पर्यवेक्षण-कार्य के लिए 'प्रतिभा-निकेतन' की एक समिति के साथ जून मास मे मालवा के ग्राम लेकाड़ो, टंकारिया और गोदिया मे रहा था। जैसा कि कहा गया है कि कबीर से दलित जातियाँ अधिक प्रभावित रही हैं, अतः ये गीत भी ऐसी ही प्रभावित दलित जातियों, बलई और चमारो के गायको से प्राप्त हुए हैं। गायक अपने गीतों का विश्लेषण करने में असमर्थ हैं। हमारे सभी प्रश्नो के उत्तर श्रद्धा-भावना से बोझिल होकर, अस्पष्ट रूप मे ही सामने आये। वे कहते, थे : **"मालक साब, तमारे हम समझाँवा केसे—या तो सब हरि सुमरण की माया है।"**

२

आप अलख इन्दर हुई बैठा, बूँद अमी रस छूटा
एक बूँद का सकल पसारा, पुरस-पुरस नर फूटा
अवदू[1] मन बिन करम नी होता।
आदो अंग नारि को कहिये आदो हर गुरु नर को
मात-पिता का मेल मिलिया करी करम की पूजा
पैला पिता एकला होता पूतर[2] जन्म्या दूजा

अवधू···

धरी-आसमान[3] सुन[4] बिच नहीं था

१. अवधूत। २. पुत्र। ३. धरती-आसमान। ४. शून्य।

तभी आपण दोई कुण था ?
साती सायर[1] आठ कोडी[2] परबत,
नव कोली[3] नाग घणी नहिं था
आठरे बाहर हो बनासपति नहिं थी
नहीं था नवलख तारा
बारा मेघ इन्दर नहीं होता
बरसनवाला नर कुण था ?

अवधू...

बिरमा[4] नहीं था, बिसनू नहीं था
नहीं था शंकर देव, हाँ जी
कहे कबीर मंडप नहीं होता
माँडन वाला नर कुण था ?

अवधू...

कबीर ने कहा है :

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि-हरि के जन होते, कहे कबीर बिचारा॥

उक्त गीत मे कई पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग हुआ है। 'अवधूत' को ही लीजिए; कबीर के अवधूत विश्वनाथसिह जू देव की व्याख्यानुसार 'वधू जाके न हो सो अवधू कहावे' नहीं है। 'अवधूत' शब्द सहज यानियों और तान्त्रिको की देन है। यद्यपि ग्रन्थो मे चार प्रकार के अवधूतो की चर्चा है, पर कबीर के अवधूतो मे ऐसा कोई भेद नहीं। कहीं-कही गोरखनाथ को भी कबीर ने अवधूत कहा है। अतः जहाँ कहीं भी कबीर की वाणियो मे अवधूत की चर्चा आई है, वहाँ वह गोरखपंथी सिद्ध योगी ही है। वही 'जगथै न्यारा' और साधारण योगी से ऊपर है।

इसी प्रकार 'शून्य' शब्द भी है। नाथपंथियों में यह शब्द सहस्रार चक्र के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने इसके साथ 'सहज' का भी प्रयोग

१. सागर। २. (८ × २० = १६०)। ३. (९ × २० = १८०)। ४. ब्रह्मा।

किया है। कबीर ने इन्हीका अनुकरण किया। ऊपर गीत मे सात सागर (सायर) का वर्णन तो परम्परागत है, पर 'आठ कोडी परबत', 'नवकोली नाग' और 'बारा मेघ' का उल्लेख अवश्य चिन्तन का विषय है।

३

लख चौरासी भटकत-भटकत, अब के मोसम आयो रे
अब के मोसम चुकी जाय तो कहीं ठोर नहीं पायो रे
बनड़ाते भले रिझायो रे
म्हारो सुरत सुहागन नवल बनी सायब भर पायो रे
हेत[1] की हलदी ने प्रेमरस पीठी तन को तेल चढ़ायो रे
ओर मन पवन हतिवाली[2] जोड़यो वीर परण घर आयो रे
बनड़ाते०...
राम-नाम का मोड़ बँधाया बिरमा बेद बुलायो रे
अबन्यासी[3] को हुयो समेलो[4] वीर परण घर आयो रे
बनड़ाते०...
राम-नाम का मोड़ बँधाया पड़लो प्रेम सवायो
बोंच (?) घलन में सेज बिछाई ओढ़े प्रेम सवायो रे
बनड़ाते०....

४

गणपत देव हिरदे मनाये
तिरबेणी गुण गाया
सिकर मेल में सुरता लागी-मेल जगाया
हे म्हारा हँसला हेरे भजन में
हे सतगुरु तेरी माया हे
अगम निगम—(?)—जार लागी
बठे कबीरा जोया हे
हे धरम पुरी का खुल्या दुवारा

---

१. प्रेम। २. हस्त-मिलन। ३. अविनाशी। ४. मिलन।

बठे परम गुरू पाया
चेतन चूकी अटल सिपाई
बठे परम गुरू पाया
चाँद-सुरज की उर ली माया
जिनकू छेक चल्योहे भाया
उड़द-सुड़द में तप से तापे
वाँ से जुदा बताया
ऐसा मता फकड़ का कीजो
सात संत की निसाणी लीजो
के बाला गोग के सरने
गुरू भुआना पाया

ऊपर 'तिरबेणी' (त्रिवेणी) का उल्लेख आया है। कबीर ने नाथ-पन्थी साधना-पद्धति को अपनाया था, जो अन्तर्मुखी है। इंगला और पिंगला नाड़ियों के बीच सुषुम्ना की स्थिति मानी गई है। सुषुम्ना में तीन नाडियाँ (वज्रा, चित्रिणी, तथा ब्रह्म नाडी) और हैं। इस तरह पाँच नाडियों, 'पंचस्रोत' या पाँच धाराओं का उल्लेख होता है, जिसकी व्याख्या 'हठयोग प्रदीपिका' में की गई है। कबीर ने गंगा (इड़ा या इंगला) और यमुना (पिंगला) का सरस्वती (सुषुम्ना) के द्वारा ब्रह्मरंध्र मे संगम कराया है। वही स्थान त्रिवेणी है। 'सिकर मेल' का तात्पर्य शून्य चक्र या सहस्रार पद्म से है। सुरता (सुरति) साधकों का विशेष सांकेतिक शब्द है, जो 'शब्द' या 'सबद' के असीम आनन्द-संगीत को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होता है। हँसला (हंसा) को कबीर ने सदैव मुक्तात्माओं के अर्थ में लिया है। कहीं-कहीं अवधूत और हंसा को एक समझा गया है। 'सत्गुरू' शब्द सहज यानियों, तान्त्रिकों और नाथों में समान भाव से प्रयुक्त होता रहा और कबीर के माध्यम से वह लोक-गीतों में भी आ गया। यहाँ 'सत्गुरू' का प्रयोग उसी परम्परागत अर्थ में हुआ है।

'सत्गुरू' शिष्य के हृदय मे ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित करता है। वह अपनी अनन्त महिमा से शिष्य पर अनन्त उपकार करके अनंत नेत्रो को खोलकर अनन्त को दिखला देता है। ऊपर गीत मे परम गुरु 'सत्गुरू' ही है, जिसका परम पद गौरवशाली है। गीत मे "उडद-मुड़द" का भाव स्पष्ट नही है। इसी तरह "बाला गोरा" सम्भवतः किसी का नाम होना चाहिए।

नाथ-पंथी साधुओ के प्रति अनेक आश्चर्यजनक कथाएँ सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित है। गोरख और मत्स्येन्द्र, गोपीचन्द, भरथरी, रानी पिंगला आदि और आगे चलकर कबीर की जन-कहानियो के विषय बन गए। यही बात गीतों के क्षेत्र मे भी हुई। "धमाली" और "जोगीडा" गीत इन्हीं योगियो के प्रभाव की देन हैं। इस तरह यदि लोक-गीतो पर कबीर के प्रभाव को अथवा उसके पूर्ववर्ती प्रभाव को ढूँढना चाहे तो वह अवश्य प्राप्त होगा।

कबीर ने अपने मत के प्रचारार्थ लोक-भाषा का आश्रय लिया था। उनके पूर्ववर्ती साधको ने भी यही किया। अतएव भाषा के माध्यम से ये लोग जनता के समीप आ सके और अपनी विलक्षण बातो से उसे प्रभावित करते रहे।

ऊपर के चारो गीत धूला और सावतजी नामक गायकों से प्राप्त हुए हैं। धूला तो मालवा के वेटमा ग्राम के बालकदास बाबाका चेला है। किसी समय मध्यभारत मे कबीर-पंथियो और नाथ-पंथी अखाड़ो का जोर रहा था। इसीलिए आज भी प्रायः प्रत्येक ग्राम मे नाथ-पंथी "जोगी" अथवा "जुगी" मिल जाते हैं और इन्हींको मानने वाले छोटे-मोटे दल भी साथ ही पाये जाते हैं। विशेष रूप से दलित जातियों पर इनका बड़ा प्रभाव है। उनके लोक-गीतो पर यह प्रभाव इसीलिए अध्ययन की वस्तु है। उसमे परम्परा का आदि-स्रोत खोजना आनन्द का विषय है। [1]

---

१. 'धर्मयुग' जुलाई १९५१ में प्रकाशित।

: उ :

वंश-तालिका

(१)

- बालमुकुन्द गुरु
  - ॐकार गुरु
    - सोमेश्वर गुरु
      - गणेशीलाल (वर्तमान पीढ़ी)
      - बाबूलाल
      - मॉगीलाल
      - राजकुँवर
      - धापूबाई
    - जमनालाल

(२)

- कालूराम उस्ताद
  - जगन्नाथ
    - मदनलाल
  - शालिग्राम
  - बद्रीलाल
    - पन्नालाल

: ऊ :

निमाड़ी मृत्यु-गीत [1]

'हालरो'

सोहं बालो हालरो, अरे जाकी निरमल जोत
कि सबद धात को पालणो, अरे पाटया तिन से साठ

---

१. निमाड और मालवा मे वृद्ध व्यक्ति की मृत्यु पर जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें 'मसाण्या गीत' कहा जाता है। प्रस्तुत गीत 'हालरो' के नाम से प्रचलित है, जिसका अर्थ है लोरी। 'मनांग' की छाप से इसके रचयिता का नाम ज्ञात हो जाता है। रेखांकित अंश संत-परम्परा में प्रचलित सांकेतिक शब्द ही हैं जिनकी व्याख्या करना प्रासंगिक नहीं है।

ऐसी खील जड़ाव कि जापे ठड़िया ठाठ ।
सोहं वालो हालरो ।
अगासी झुलवा होण दिया, लागे तिरबेणी डोर
अरे जुगत से झूला चलाविया, हेच्या 'मनरंग' मोर
सोहं वालो हालरो ।
नी बालूडा या सोवतो, नी जागतो,
अरे नई रे जाया दूध
सदा से सिव जाकी संग में, खेले वजारण को पूत
सोहं वालो, हालरो ।
अणहद घुँघरू बाजिया, आज भाग्या छ मेव
अरे सुरता करो हो विचार
आठ कमल जिया दल चढ़्या, लागा साँकल डोर
सोहं वालो, हालरो ।
नदि सिपटा [1] क घाट प, बठ्या ध्यान लगाय
आवत देख्या हो पिंजरा, लिया गोद उठाय
सोहं वालो हालरो ।
आगा से लिखी आया हो सुरता करो हो विचार
राखो सरणा लगाय
सोहं वालो, हालरो ।

: ए :

मालवी-भाषा [2]

मालवी एक करोड नर-नारी की भाषा हे, उका भीतरी भेद सीमा, प्रान्त का प्रभाव और संस्कार से भले थोड़ी-भोत फरक रखता होवे, पर मूल उको मालवीज हे । यूँ तो इना अपना प्रदेश ने पला कितनीज भाषा के जनम

१. खरड़वा से ६ मील दूर सुक्का नदी ।

२. मालवी-कवि-सम्मेलन में पढ़ा गया श्री सूर्यनारायण व्यास का गवेषणापूर्ण भाषण ।

दियो हे। संस्कृत भाषा को यो घरज् मान्यो जातो थो। उना काल में वा अपना अवन्ती भाषाज् थी, उनी अवन्ती सेज् प्राकृत पैदा हुई थी। महाकवि राजशेखर और दूसरा लोगा ने लिख्यो हे के '**प्रकृत्यवन्तिजा भाषा**'। उनी प्राकृत से आगे चली के दूसरी भाषा बनी, बढी हे। इनी तरे अवन्ती की पुत्री प्राकृत ओर उनसे महाराष्ट्री ओर अपभ्रंश वगैरा बनी हे। मालवी तो प्राकृत की बडी बेनज् केवाय, या अवन्ती जब नर्मदा नदी का तट का पास बढ़ गई, महाराष्ट्री को चोलो धारण करती गई। इसी तरे जो मालवी रतलाम, दशपुर, नीमच, बागड, भेलसा या निमाड की तरफ गई, राजस्थान, गुजरात, बुन्देलखण्ड, दक्षिण का प्रभाव मे आती गई, पर वे सब मालवी तो हेज्। वास्तव मे मालवी अपना-आपमे सम्पूर्ण शक्तिशाली जानदार ओर व्यापक प्रभावशाली भाषा हे। जो लोग इखे राजस्थानी को एक भेद माने हे वे भ्रम मे हे। अवन्ती (मालवी) भाषा को हजारो साल पेलाँ की इतिहास हे, जो नी जाने हे वे अनजान हे।

या बात सच हे के मालवी बोलने वाला लोगा ने अर्सा से नई सभ्यता की हवा मे अइ के जिनी तरे अपनी वेश-भूषा, भाषा और संस्कृति की अवहेलना शुरू करी दी, उनी तरे मालवी खे बी बुलाता जइया हे। भोतसा लोग तो अपना घर मे बी मालवी बोलने मे शरमावे हे, ओर कुछ लोग एसाबी हे के जिनखे अपनी भाषा की उन्नति-अभिवृद्धि मे प्रान्तीय संकीर्णता की बास आने लगे हे। पर म्हारे आपसे यो केनो हे के जिना आदमी खे अपनी भाषा, वेश-भूषा, अपनी संस्कृति, अपना प्रान्त को अभिमान नी हे उखे अपना देश, अपनी संस्कृति, अपना राष्ट्र को अभिमान नी हुइ सके। जिखे अपनी माता मे सम्मान भाव नी होया वो राष्ट्रपिता या राष्ट्र नेता को किनी तरे सम्मान करी सके? जनम भूमि या मातृ-भाषा को अभिमान कई संकीर्णता केवाय?

अपना प्रदेश को इतिहास, अपना वीर ओर विद्वान् पुरुष का चरित, अपना तीर्थ ओर पवित्र स्थान को महत्त्व अपनी आत्मा खे उन्नत बनावे हे। प्रेरणा दे हे। ऐसा सब जगे का इतिहास साहित्य वीर पुरुष होन का

वर्णन मिली केज् तो राष्ट्र को इतिहास बने, और गौरव बड़े। आज भले विक्रम, भोज, कालिदास, भर्तृहरि हमारा प्रान्त मे हुआ, पर उनको इतिहास सारा राष्ट्र को गौरव देन वालो बनी गयो हे। वे राष्ट्र की विभूति हे, तो इनको स्मरण करनो संकीर्णता हुई जाय हे ? आज पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, मराठी, बंगला और विदेशा मे लिख्यो गयो साहित्य अपना देश को साहित्य हे। उनको इतिहास देश या साहित्य को इतिहास हे। इसी तरे मालवी का बारा मै शंका करनो बेकार हे। पतो नी हमने अपना विशाल प्रदेश की मालवी खे क्यो उपेक्षित करी रखी हे ! इना उपेक्षा सेज् हमारो पुरानो साहित्य बिखर्‌यो हुयो हे, दुर्लभ बनी गयो हे। नी तो आज यो हाल नी होतो के देश मै जितना भाषा का वर्ग बन्या उनमे मालवी को नाम तक नी हो तो। इखे स्वतन्त्रत भाषा मे स्थान तक नी हे। या बात 'एक करोड लोग की बोली' का वास्ते तमखे शरम मरीकी हे। पर हम दूसरा खे दोष क्यो दाँ, हमने मालवी का वास्ते कई काम कर्‌यो, कोन सो उन्नति को रास्तो कर्‌यो या सोच्यो ? हम तो बोलने, लिखने या बात करने तक मे शरमावाँ हाँ। भला एक करोड लोगना की भाषा को कोई साहित्य नी होय, पत्र नी होय, पोथी नी होय, ये हमारी मीठी, सुन्दर, सरल, सशक्त, कमनीय, मातृभाषा का हाल कितना आश्चर्य की बात हे। कभी हमने इनी निगा से विचार तक नी कर्‌यो। मालवी कितना दिल पर असर करे, कितनी जल्दी सारी जनता का निकट सम्पर्क कायम करे, इकी ताकत से हमने समजने की कोशिसज् नी करी, जिनी बखत मने 'मेघदूत' का सब भाषा मे अनुवाद देख्या और मन मे आयो के मालवी मे क्यो नी इको अनुवाद करि दिया जावे ? तब म्हारे खे या शंका हुई के बडा-बडा समास या वाक्य होन को किनो तरे सरल अनुवाद हुई सकेगो ! पर मालवी की अद्भुत शक्ति और क्षमता उनी बखत समज मे आई जब—

'धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क्व मेघः'

को अनुवाद

धूँवो तेजी जल मिल हवा मे बन्यों बाद्लो क',

'बाह्योद्यानस्थित हरशिरश्चन्द्रिका धौत हर्म्या' को अनुवाद

माधा की चन्द्रिका से धवल धुल दिखे सौंध जाँ रम्य सुन्दर

जिनी स्वाभाविकता से हम हिन्दी मे बी जो भाव व्यक्त नी करी सका, वे मालवी मे मधुरता और सरलता से हुई सके। जिनी भाषा मे या क्षमता होय उखे हमने उपेक्षित कर रखी हे। मालवी कविता मे जो शब्द-चित्र अंकित हुआ हे वे कितना स्वाभाविक और हृदय खे सीदा स्पर्श करी लवे हे। जन-जीवन का कितना अधिक निकट होवे हे। मालवी बोली की मधुरता शब्द-शक्ति और महत्त्व समजने की दृष्टि से अब हम स्वतन्त्र हाँ, और या स्वतन्त्रता जन-शक्ति पर आधार रखे हे। पर जब तक हम जन-जीवन खे समजनें, स्पर्श करने की भावना से उनी भाषा और विचार से निकटता नी साधी सकाँगा हमारा सब प्रयत्न बेकार हे। जनता का विचार-व्यवहार-संस्कार खे और उनका अपनी भाषा का समजनी पेला आवश्यक हे। आज हमारी असफलता बी जन-जीवन से दूर होने का कारण् हे। अपना प्रदेश की उन्नति मे जब तक अपनी भाषा को योग नी मिले, तब तक सफलता मे सन्देह रेगो। हमखे मालवी को महत्त्व समजनो पड़ेगो, उकी ताकत खे पेचाननो पड़ेगो। जानदार और ताकतदार बोली का साहित्य बी जानदार होय हे और जिना प्रदेश को जानदार साहित्य होयगो, संस्कार होयगो, वो प्रदेश अवश्य उन्नत बनतो जावेगो। यो लोकतन्त्र को युग हे। इमे हम लोक-साहित्य, लोक-कला, लोक-जीवन की उपेक्षा करी के कोई सफलता नी पई सकागाँ। जन-जीवन का विकास का वास्ते उका स्रोत खे समजने की जरूरत हे। बो स्रोत जनता की भाषा और संस्कार मे मिली सकेगो। मालवी भाषा मे बो सब स्रोत निहित हे। उकी शक्ति अप्रतिम हे, उमे हमारा प्रदेश को इतिहास और संस्कृति की धारा प्रवाहित हुई री हे।

आज हम बो संकल्प करॉ के हम सब अपनी इनी मधुर भाषा मालवी को सम्मान करागॉ। आज तक करी हुई उपेक्षा को प्रायश्चित्त करागाँ, और

पूरी ताकत से तन-मन-धन से इनी मधुर बोली के सब तरे उन्नत करने में कोई तरे बाकी नी रखागाँ। मातृ-भूमि और मातृ-भाषा को अभिमान रखी खेज हम स्वाभिमान का साथ देशाभिमान राखी सकाँ हाँ।

: ऐ :

जनपद कल्याणी योजना[1]

जनपदों का साहित्यिक संगठन

मेरी सम्मति मे जनपदी बोलियो का कार्य हिन्दी-भाषा का ही कार्य है। वह व्यापक साहित्यिक अभ्युत्थान का एक अभिन्न अंग है। हिन्दी की पूर्ण अभिवृद्धि के लिए जनपदों की भाषाओ से प्रचुर सामग्री प्राप्त करने का कार्य साहित्य-सेवा का एक आवश्यक अंग समझा जाना चाहिए। इसी भाव से कार्यकर्ता इस काम मे लगे तो भाषा और राष्ट्र दोनों का हित हो सकता है। सेवा के कार्य से स्पर्धा या क्षति की त्रिकाल में सम्भावना नहीं है। अधिकार-लिप्सा और स्वार्थ-साधन की वृत्ति से पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हुआ करता है। चाहे जितना पवित्र काम हो, जब मलिन वृत्तियाँ घर कर लेती हैं तो कार्य भी दोषावह बन जाता है। यह तो व्यापक नियम का ही एक अंग है। कवि के शब्दो मे **'जड़-चेतन गुणदोषमय, विश्व कीन्ह करतार'** इस नियम का अपवाद साहित्य-सेवा भी नही है। मुझे तो जनपदों की भाषाओ का कार्य एकदम देवकार्य-जैसा पवित्र और उच्चाशय से भरा हुआ प्रतीत होता है। यह उठते हुए राष्ट्र की आत्मा पहचानने-जैसा उदार कार्य है, क्योंकि इसके द्वारा हम कोटि-कोटि जन-समुदाय की मूल सात्विक प्रेरणाओं के साथ सान्निध्य प्राप्त करते चलते हैं।

साहित्य का जो नगरों मे पाला-पोसा गया रूप है, जिसे हम भगवान् चरक की भाषा में 'कुटी-प्रावेशिक' कह सकते हैं, उसके दायरे से बाहर

---

१. **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, पी०-एच० डी० द्वारा प्रस्तुत।**

निकलकर जनपदों की स्वच्छन्द वायु में पनपने वाले साहित्य के 'वास्तविक' स्वरूप की परख करने मे हम जितने अग्रसर होगे उतना ही जनता और साहित्यकारो के तथा लोक-जीवन और साहित्य के बीच पडी हुई गहरी खाई को पाटकर उस पर एक सर्व जन-सुलभ सेतु बाँधने मे सफल हो सकेंगे।

भारतीय जनता का अधिकांश भाग देहातों में है। उसकी भावना की क्रीड़ा-स्थली ये देहात ही हैं। इन्हींका साहित्यिक नाम जनपद है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि जनपदो की संस्कृति का अध्ययन हमारे राष्ट्र की मूल आध्यात्मिक परम्पराओ का अध्ययन है। जिनके द्वारा हमारे जीवन की गंगा का प्रवाह बाहरी कल्मषों से अपनी रक्षा करता हुआ आगे बढ़ता रहा है। व्यास और वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी, चरक और पाणिनि, इन सबका जानपदी संस्कृति के दृष्टिकोण से हमे फिर एक बार अध्ययन करना है। किसी समय इन महासाहित्यकारो की कृतियाँ जनपदो के जीवन में बद्धमूल थीं। जिस समय वेदव्यास ने द्रौपदी की छवि का वर्णन करते हुए तीन वर्ष की श्वेत रंग वाली मस्त गौ को (**सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायनी**—विराट १७-११) उपमान रूप मे कल्पित किया, जिस समय वाल्मीकि ने अराजक जनपद का गीत गाया, जिस समय कालिदास ने मक्खन लेकर उपस्थित हुए, ग्राम-वृद्धों से राजा का स्वागत कराया (**हैयंगवीनमादाय घोष वृद्धानुपस्थितान्**) और जब पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में सैकड़ों छोटे-छोटे गाँवों और बस्तियो के नाम लिखे और उनके बहुमुखी व्यवहारों की चर्चा की उस समय हमारे देश मे पौर और जानपद जीवन के बीच एक पारस्परिक सहानुभूति का समझौता था। दुर्भाग्य से रस-प्रवाह के वे तन्तु टूट गए! हमारे साहित्य का क्षेत्र भी संकुचित हो गया और हम अपनी जनता के अधिकांश भाग के सामने परदेशी की भाँति अजनबी बन बैठे हैं। आज नव-चेतना के फगुनहटे ने राष्ट्रीय-कल्पवृक्ष को झकझोरकर पुराने विचार-रूपी पत्तों को धराशायी कर दिया है। सर्वत्र नये विचार, नये मनोभाव और नई सहानुभूति के पल्लव फूट रहे हैं। गाँव और नगर दोनो एक ही

साधारण जीवन की परिधि मे एक-दूसरे की ओर बढ़ रहे हैं—सहस्र तन्तुओ से एक-दूसरे के साथ गुँथकर फिर एक ज्ञान की भूमि से अपना पोषण प्राप्त करने के लिए। यही वर्तमान साहित्यिक प्रगति की सबसे अधिक स्पृहणीय विशेषता और आशा है। हम ग्रामो के गीतो मे काव्य-सुधा का पान करने लगे हैं। जनपदो की बोलियाँ हमारे लिए वैज्ञानिक अध्ययन की सामग्री का उपहार लिये खडी है। कही लुधियानी के उच्चारणों का अध्ययन हो रहा है, कहीं हरमुकुट पर्वत पर बैठकर भाषा-विज्ञान के वेत्ता सिन्धुनद की उपत्यका के एक छोटे गॉव की बोली का अध्ययन कर रहे हैं, कही दरद देश की प्राचीन पिशाच-वर्गीय भाषा को छान-बीन हो रही है, कहीं प्राचीन उपरिश्येन (हिन्दूकुश) पर्वत की तलहटी मे बसने वाले छोटे-छोटे कबीलों की मुंजानी और इश्काश्मी बोलियो का व्याकरण बन रहा है और यह सब कार्य कौन करा रहा है? वही राष्ट्रीय-कल्प-वृक्ष के रोम-रोम मे नवीन चेतना की अनुभूति इस कार्य-जाल की मूल प्रेरक शक्ति है।

इस कार्य का अधिकांश सूत्रपात और मार्ग-प्रदर्शन तो विदेशी विद्वानों के द्वारा हुआ है और हो रहा है। हम हिन्दी के अनुचर तो अभी बड़े सतर्क होकर फूँक-फूँककर पैर रख रहे हैं। **प्रचण्ड शक्तिशालिनी हिन्दी भाषा की विभूति का विशाल मन्दिर जानपदी भाषाओं को उजाड़कर नहीं बन सकता, वरन् इस पंचायतनी प्रासाद की दृढ़ जगती में सभी भाषाओं और बोलियों के सुगढ़ प्रस्तरों का स्वागत करना होगा।**

हम सोये पड़े थे, पर अध्यवसायी टर्नर महोदय नेपाली बोली का निरुक्त-कोष सम्पन्न कर चुके। हम अभी जँभाई लेकर ऑखें मल रहे हैं, उधर वे ही मनीषी जागरूक बनकर हिन्दी-भाषा का उसकी बोलियों के आधार से एक विराट् निरुक्त कोष रचने मे अहर्निश दत्तचित्त है।

कार्य अनन्त है। हमारे कार्यकर्ता गिनती के है। उनके साधन भी परिमित हैं। वैज्ञानिक पद्धति से कार्य करने की कला भी हममे से बहुतो को सीखनी है। फिर पारस्परिक स्पर्धा का अवसर ही कहॉ रहता है? जानपदी

बोलियों का कार्य हिन्दी का अपना ही कार्य है। उनके विकास और वृद्धि के मुहूर्त मे हिन्दी के ऋत्विकों को स्वस्त्ययन मन्त्रों का पाठ ही करना चाहिए। जो लोग जनपदों को अपना कार्यक्षेत्र बना रहे हैं, वे भी हिन्दी के वैसे ही अनन्य भक्त हैं और हमारा विश्वास है कि उनका यह कार्य हिन्दी के विशाल कोष को और भी अधिक समृद्ध बनाने के लिए ही है।

हिन्दी-साहित्य का 'समग्र' रूप[1]

जनपद कल्याणीयं कार्य को हम ऊँचे और पवित्र धरातल से करना चाहते है। हमारे इतिहास की जो धारा है, उसका एक स्वाभाविक परिणाम जनपदो के साथ सुपरिचित होना है। आने वाले युग की यह विशेषता होगी। लोकोद्धार के बहुमुखी कार्यों की हम इसे दार्शनिक विचार-भूमि कह सकते हैं।

जनपदों की संस्कृति और साहित्य के कार्य को हम राष्ट्र के 'समग्र' या गीता के शब्दो मैं 'कृत्स्न' रूप को पहचानने का कार्य कहते हैं। जनपद राष्ट्र का अंग है। उसके साथ सूक्ष्म परिचय हुए बिना हमारी राष्ट्रीयता की जड़े आकाशबेल की तरह हवा मे तैरती रहेगी। जनपदो की सास्कृतिक, साहित्यिक भूमि सारे राष्ट्रीय साहित्य के लिए परम दुधारू धेनु सिद्ध होगी।

---

1. इसमें साहित्यिक क्षेत्र में कार्य-विभाजन की योजना है। बीस करोड़ भाषा-भाषियो के साहित्य का क्षेत्र कुछ संकुचित तो है नहीं, जो हम एक-दूसरे के कार्य के प्रति सशंक हों और विवाद में पड़ें। जैसे मातृभूमि के लिए 'अथर्व वेद' के ऋषि ने 'पृथिवी-सूक्त' में लिखा है कि यह पृथिवी नाना धर्मों के अनुयायी अनेक भाषाओं के बोलने वाले बहुत से मनुष्यों को धारण करती है :

   'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं, नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्'

   वैसे ही हमारे साहित्यिक जगत् में भी 'विविध वाक् वाले' बहुत से जनों के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। सारांश यह है कि इस पवित्र क्षेत्र में स्पर्धा के स्थान पर कार्य-विभाजन-जनित सहकारिता और सहानुभूति का राज्य होना चाहिए।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब राष्ट्र जनपदो के समूह से बना है तब जनपदो की अवहेलना करके राष्ट्रीय कोष मे भरने के लिए हम उपहार-सामग्री लायँ तो कहाँ से ?

कृष्ण ने 'कृत्स्न' ज्ञान की जो परिभाषा बाँधी है, वह अक्षरशः हमारे कार्य पर लागू है। समग्र राष्ट्र-सम्बन्धी साहित्य व भाषा और संस्कृति की उन्नति, उसके स्वरूप की विकसित अवाप्ति यह ज्ञान है। 'एक' ता की ओर प्रगति ज्ञान है और विभिन्नता को समझने का प्रयत्न विज्ञान है। **'एकोऽहं बहु स्याम्'**, यह बाह्यमुखी प्रवृत्ति विज्ञान से सम्बन्धित है। विविधता का निराकरण करते हुए, **'एकमेवाद्वितीयम्'** के द्वारा मौलिक अद्वितीय तत्त्व की खोज यह 'ज्ञान' पक्ष है। बहुतो मे एक और एक मे बहुत को पहचान सकना ही पूरा पक्का अनुभव कहा जाता है। जिस प्रकार यह महा सत्य मानवी जीवन मे सच्चा और खरा है उसी प्रकार साहित्य-जगत् मे इसकी सत्यता को हमे अनुभव मे लाना चाहिए।

इस पक्ष मे साहित्य का समग्र राष्ट्र के साथ सम्बन्ध है। उस भगीरथ कार्य का स्वरूप निम्न लिखित समझना चाहिए :

(१) समस्त संस्कृत-साहित्य का पूरी छान-बीन के साथ हिन्दी मे, खड़ी-बोली मे, अनुवाद और प्रकाशन।

(२) निखिल पालि साहित्य, अर्ध मागधी, जैन साहित्य, अपभ्रंश-साहित्य, संस्कृत बौद्ध साहित्य का नं० १ की तरह ही हिन्दी मे समीक्षा-सम्पन्न अनुवाद और प्रकाशन।

(३) तिब्बती और कंजुर तंजुर, चीनी त्रिपिटक, जिसमे लगभग ५००० ग्रन्थ भारतीय धर्म और संस्कृति-सम्बन्धी है और मूलसर्वास्तिवादी, महासन्घिक एवं सम्मितीय सम्प्रदायो के ग्रन्थ पृथक्-पृथक् सुरक्षित हैं, प्राचीन अवस्ता और पहलवी के ग्रन्थो का हिन्दी मे अनुवाद और प्रकाशन। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि इन ग्रन्थो मे प्राचीन भारतवर्ष के भूगोल, इतिहास और जीवन की अपरिमित सामग्री विद्यमान है।

(४) अरबी यात्रियों के भारत-सम्बन्धी यात्रा-ग्रन्थ, फ़ारसी में लिखे

हुए, सुलतानी और मुगलकालीन इतिहास और भूगोल-ग्रन्थों का खड़ी बोली मे अनुवाद और प्रकाशन। इब्न हौकल, अब्बुल फ़िदा, सुलेमान आदि यात्रियो ने भारतवर्ष का जैसा वर्णन किया है, उसके साथ परिचित होने का जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है उसके उपभोग के लिए हम खड़ी बोली की ही शरण मे जायँगे। अंग्रेजी और फ्रेन्च-भाषाओं मे इनके संस्करण हो चुके हैं। हिन्दी मे भी निकलना आवश्यक है।

(५) पुर्चगाली, ओलंदाजी, फ्रांसीसी और अंग्रेजी यात्रियों के सैकड़ों यात्रा-विवरण १६ से १८वीं सदी तक, जिन्हे हक्लुयत सोसाइटी ने छापा है और जिनमे हमारे राष्ट्रीय जीवन के एक बहुत ही गाढ़े समय का चित्रण है, खडी बोली के ही द्वारा हिन्दी-जनता को मिलने चाहिएँ।

(६) विश्व मे जो इस समय विज्ञान का महिमाशाली साहित्य दिन-दूना रात चौगुना बढ़ रहा है, उसको पूरी तरह व्यक्त करने और अपने राष्ट्र-कोष मे समेटने का माध्यम खड़ी बोली ही हो सकती है। इस कार्य में एक सहस्र कार्यकर्ता भी हो तो थोड़े हैं। ग्रीक और लेटिन की सहायता से जैसे यूरोप ने अपने पारिभाषिक शब्दों की समस्या को हल कर लिया है, उसी प्रकार हम भी संस्कृत की शक्ति से, जो ग्रीक-लैटिन से धातु-प्रत्ययों से कहीं अधिक समृद्ध है, हल कर सकते हैं। धातुओं से अनेक कृदन्त बनाने की जैसी सामर्थ्य संस्कृत में है, वैसी किसी दूसरी भारत-यूरोपीय-वर्ग की भाषा में नहीं है। हमारा उत्तराधिकार इतना समृद्ध है। बुद्धिपूर्वक उसका उपयोग करने से पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दों के निर्माण की समस्या बहुत आसान हो सकती है।

(७) हिन्दी में जो नवीन साहित्य-सृष्टि होगी, उसका माध्यम भी खड़ी बोली ही होगा। प्रान्तीय भाषाओं के बढ़ते हुए साहित्य को हिन्दी-भाषा मे अनूदित करने का कार्य भी खड़ी बोली के साहित्य-सेवियों को करना होगा। संसार की अन्य भाषाओं मे जो उच्च कोटि का साहित्य या काव्य अब तक बने हैं या आगे बनेंगे उन्हे भी हिन्दी-भाषा में ले आने का कार्य शेष है।

ये सब कार्य खड़ी बोली के माध्यम से पूरे करने होंगे। इन्हे हम उस कोटि में रखते हैं जो एक केन्द्र से किये जा सकते है। इन कार्यों के करने मे न बहुत-से केन्द्रों मे बहकने की आवश्यकता है और न जनपदों की पगडण्डियों में रास्ता भूल जाने की। यहाँ हमारे मित्र सब प्रकार की आशंकाओं से एकदम सुरक्षित रहकर हिन्दी के गौरव की वृद्धि कर सकते हैं।

ऊपर निर्दिष्ट केन्द्रीय एकता के अतिरिक्त साहित्य-निर्माण का दूसरा पक्ष भी है जिसमे बहुत से केन्द्रों मे फैलकर हमे साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य को उठाना है। इनका क्षेत्र जनपदों की छोटी-सी प्रशान्त भूमियाँ हैं। यहाँ चारों ओर विभिन्नता का साम्राज्य है। आकाश के तरैयों की छोटी-सी झिलमिल की तरह साहित्यिक यहाँ चमक रहे है। वर्षा की बूँदों की तरह लोक-गीत, कहानी, मुहावरे, शब्दों की प्रतिक्षण यहाँ वृष्टि हो रही है। वृक्ष और वनस्पति अपना संदेश सुनाने को आकुल हैं। गाती हुई कोयल का स्वर साहित्यिक को अपनी ओर खींच रहा है। एक छोटा-सा हरा तृण शंखपुष्पी के जैसे श्वेत फूल की पगडी बाँधकर अपनी चौपाल पर चौधरी बना बैठा है। उसकी बात सुनने का निमंत्रण हिन्दी-साहित्यिको के कानो मे कई वर्ष पहले पहुँचा था। उसका नाम, धाम, ग्राम, पता पूछने के लिए यदि आपके साहित्यिक जाना चाहते हैं तो कृपया उनको रोकिये मत, आशीर्वाद दीजिये। इसमे हमारा-आपका दोनो का सौभाग्य छिपा हुआ है। जनपदों मे जो जीवन की धारा अब तक बहती आई है, उसके यशोगान की पुण्यश्लोक सरस्वती जब हमारे साहित्यिको के कण्ठ से गूँजेगी, तब उसके घोष से हमारे कान युगो की बधिरता का परित्याग करके जी उठेंगे। जनपदो मे एक बार मातृभूमि का दर्शन अपने साहित्यिकों को करने तो दीजिये। आप सूर्य से प्रार्थना करेंगे कि पूरे सौ वर्ष तक हमारी आँखो के साथ उसका सख्य भाव बना रहे जिससे मातृभूमि के पूरे सौन्दर्य और समग्र रूप को देखने की हमारी लालसा आयु पर्यन्त पूरी होती रहे।

जानपद जन

प्रियदर्शी महाराज अशोक ने गाँवों की भारतीय जनता के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह सम्मानित शब्द है 'जानपद जन'। कई वर्ष पूर्व अशोक के लेखों का पारायण करते हुए हमे इस बहुमूल्य शब्द का नवीन परिचय मिला था। सात लाख गाँवों में बसने वाली जनता को हम इस पवित्र नाम से सम्बोधित कर सकते है। इस समय इस प्रकार के उच्चाशय से भरे हुए एक सरल नाम की सर्वत्र आवश्यकता है। एक ओर साहित्यिक जीवन मे साहित्य-सेवी विद्वान् जनपद कल्याणी योजनाओ पर विचार करने मे लगे है, सामाजिक जीवन मे नगर की परिधि से घिरे हुए नागरिक-जन विशाल लोक के स्वस्थ और स्वच्छन्द वातावरण मे खुलकर श्वास लेने के लिए आकुल है। दूसरी ओर राजनीतिक जीवन मे भी ग्रामवासी जन-समुदाय की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ है। चिरकाल से भूले हुए, जानपद जन की स्मृति सबको पुनः प्राप्त हो रही है और जानपद-जन को पुनः अपने उच्च आसन पर प्रतिष्ठित करने की अभिलाषा सब जगह एक-सी दिखाई पडती है। प्रत्येक क्षेत्र में उठने वाले नवीन आन्दोलन की यह एक सर्वव्यापी विशेषता है।

ऐसे समय भारत के प्रिय सम्राट् महाराज अशोक के हृदय से निकले हुए जनता के इस प्रियनाम, 'जानपद जन' का हमे हार्दिक स्वागत करना चाहिए। अशोक के हृदय मे देश की प्राण शतसहस्र जनता के लिए अगाध प्रीति थी। उनके साथ साक्षात् सम्पर्क प्राप्त करने के लिए उन्होने कई नये उपायों का अवलम्बन किया। अभी उनको सिंहासन पर बैठे दस ही वर्ष हुए थे कि पहले राजाओ की विहार -यात्राओ को रद्द करके लोक-जीवन से स्वयं परिचित होने के लिए उन्होंने एक नये प्रकार के दौरे का विधान किया, जिसका नाम धर्मयात्रा रखा गया। इसका उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित था।

'जानपदसा च जनसा दसने धमंनुसथि च धम पलिपुछा च' (अष्टम शिलालेख) आज भी चकरौता तहसील मे यमुना और तमसा के

संगम पर स्थित कालसी गाँव मे हिमालय के एक शिला-खंड पर ये शब्द खुदे हुए है अर्थात् धर्म के लिए होने वाले इन दौरो का उद्देश्य—

(१) जानपद जन का दर्शन, (२) उनको धर्म की शिक्षा और (३) उनके साथ धर्म-विषयक पूछताछ करना था।

पृथ्वी को अलंकृत करने वाले वैभवशाली सम्राट् के ये सरलता से भरे हुए उद्गार है। जहाँ पहले राजाओं को देखने के लिए प्रजा को आना पड़ता था वहाँ अब स्वयं सम्राट् उनके बीच मे जाकर उनसे मेल-जोल बढ़ाना चाहते हैं। जानपद जन का दर्शन सम्राट् प्राप्त करे। यह भावना कितनी उदार, शुद्ध और उच्च है। इसीलिए एच० जी० वेल्स सरीखे ऐतिहासिको का कहना है कि अशोक के हृदय से तुलना करने के लिए संसार का और कोई सम्राट् सामने नही आता। जानपद जन के सम्पर्क मे आकर सम्राट् उनके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठाना चाहते है। यही उस समय की वास्तविक लोक-शिक्षा थी। धार्मिक पक्ष की ओर ध्यान देते हुए भी जनता के लौकिक कल्याण की बात को अशोक ने नही भुलाया। प्रथम तो उन्होने जनता का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए जनता की सीधी-सादी ठेठ भाषा का सहारा लिया। राज-काज मे भाषा-सम्बन्धी यह परिवर्तन अशोक की अपनी विलक्षण सूझ और साहस का फल था। उस समय कौन सोच सकता था कि सम्राट् के धर्म-स्तम्भो पर जनता की ठेठ भाषा स्थान पाने के योग्य समझी जायगी। तुष्ट की जगह 'तूठ', ब्राह्मण की जगह 'बंमन', और पौत्र के लिए 'पोता', ये इस ठेठ बोली के उदाहरण हैं।

जानपद जन का परिचय पाने के लिए जानपदी भाषा का उचित आदर अत्यन्त आवश्यक है। जानपद जन के प्रति श्रद्धा होने के लिए जानपदी बोली के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए। अशोक ने लोकस्थिति सुधारने का दूसरा उपाय यह किया कि एक विशेष पद के राजकीय पुरुष नियुक्त किये, जिनका कार्य केवल जानपद जन के हित-सुख की चिन्ता करना था। उनको लेख में राजुक कहा गया है। ये लोग इतने विश्वसनीय, नीतिधर्म के पक्के, आचार में सुपरीक्षित और धर्मनिष्ठ थे कि अशोक ने स्वयं लिखा है:

"जैसे कोई सुपरिचित धात्री के हाथ में अपनी संतान को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है वैसे ही मैंने राजुको को नियुक्त कर दिया है।"

'हेवं मम लाजूक कट जानपदस हितसुखाये।'

जानपद जन के हित सुख के लिए, सम्राट् के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं :

"ये लोग बिना किसी भय के, उत्साह के साथ, मन लगाकर अपना कर्तव्य करें। इसलिए मैंने इनके हाथ में न्याय के साथ व्यवहार करने और दण्ड देने के अधिकार सौंप दिए हैं।" यह जानपद जन के लिए न्याय की प्राप्ति उनके अपने क्षेत्र मे ही सुलभ कर देना सम्राट् का एक बडा वरदान था।

इस प्रकार प्रियदर्शी अशोक ने जानपद जन को शासन के केन्द्र मे प्रतिष्ठित करके एक नवीन आदर्श की स्थापना की। जानपद जन के प्रति उनकी जो कल्याणमयी भावना थी उसीसे जनता को अभिहित करने वाले इस सरल, सुन्दर और प्रिय नाम का जन्म हुआ।

●

सहायक ग्रन्थ एवं सामग्री का निर्देश

१. 'मालवा मे युगान्तर'—डॉ० रघुबीरसिंह ।

२. 'राजस्थानी भाषा'—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ।

३. 'ढोला मारूरा दूहा'—नागरी प्रचारिणी सभा ।

४. 'प्राचीन भारत का इतिहास'—डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ।

५. 'हिन्दी-काव्य-धारा'—राहुल सांकृत्यायन ।

६. 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

७. 'मध्यकालीन धर्म-साधना'— ,, ।

८. 'पृथिवी-पुत्री'—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ।

९. 'मालवी लोक-गीत'—श्याम परमार ।

१०. 'निमाडी लोक-गीत'—रामनारायण उपाध्याय ।

११. 'हुएन्त्साँग का भारत-भ्रमण'—अनु० ठाकुरप्रसाद शर्मा 'सुरेश'

१२. 'जागीरदार' (मालवी-नाटक)—डॉ० नारायण विष्णु जोशी ।

१३. 'युगल विनोद'—युगलकिशोर द्विवेदी ।

१४. 'गुरु ज्ञान गुटका'—गुलानन्द महाराज ।

१५. 'तत्त्वज्ञान गुटका'—केशवानन्द महाराज ।

१६. 'नित्यानन्द विलास'—नित्यानन्द जी ।

१७. 'मालवी कविताएँ'—मालव-लोक-साहित्य परिषद्, उज्जैन ।

१८. 'मालव, मालव-जनपद और उसका क्षेत्र-विस्तार'—सूर्यनारायण व्यास ।

१९. 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'—(१४वाँ संस्करण) ।

२०. 'गायकवाड ओरिएण्टल सीरिज' (संख्या ३७ और १) ।

२१. 'भारत मे थू और फू नाटक'—**पन्नालाल नायब**।
२२. बालमुकुन्द गुरू एवं कालूराम उस्ताद द्वारा रचित माच की हस्त-लिखित प्रतियाँ।
२३. 'मालवी रामायण' (हस्त लिखित)।
२४. लेकोड़ा ग्राम, बाघ क्षेत्र और निमाड़ संस्कृति-पर्यवेक्षण के विवरण (मालव लोक-साहित्य-परिषद्)।
२५. 'हिन्दुस्तानी' (जनवरी १६३३)।
२६. 'जनपद', अंक २, (१६५३)।
२७. 'विक्रम', (मार्ग शीर्ष, २००६)।
२८. 'विशाल भारत', फरवरी १६२६।
२६. 'जयाजी प्रताप', मध्यभारत-उद्घाटन-विशेषांक।
३०. 'मध्यभारत एवं मध्यभारत के बाहर की पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित सामग्री।
३१. होल्कर स्टेट (भू० पू०) की सेन्सस रिपोर्ट।

मालवी-सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री

काव्य : मालवी कविताएँ (भाग एक), मालव लोक-साहित्य-परिषद्, उज्जैन।
मालवी मेघदूत—**सूर्यनारायण व्यास**।
केशरिया फाग—**गिरवरसिंह भँवर**।
युगल-विनोद—**युगलकिशोर द्विवेदी**।

नाटक : मास्टर साब की अनोखी छटा—**पन्नालाल 'नायब'**।
जागीरदार—**डॉ० नारायण विष्णु जोशी**।

लोक-साहित्य : मालवी लोक-गीत—**श्याम परमार**।
मालवा की लोक-कथाएँ—**श्याम परमार**।
निमाड़ी लोक-गीत—**रामनारायण उपाध्याय**।

संत-साहित्य : गुप्त ज्ञान गुटका—**गुप्तानन्दजी महाराज**।
तत्त्वज्ञान गुटका—**केशवानन्दजी**।

नित्यानन्द विलास—नित्यानन्दजी ।

संत सिगाजी—**सिंगाजी साहित्य शोधक मण्डल, खण्डवा**

माच-साहित्य: बालमकुन्द गुरु-लिखित 'राजा भरथरी', 'गेंदापरी', 'देवर-भौजाई', 'कुँवर खेमसिंह', 'सेठ सेठानी', 'सुदबुद सालंगा', 'नागजी दूदजी' आदि, (शालिग्राम पुस्तकालय, उज्जैन) ।

लेख : 'मालवी', (**श्याम परमार**) 'जनपद', अंक—१ (१९५२) 'जन्म-संस्कार के मालवी लोक-गीत', (**श्याम परमार**), 'जनपद' अंक ४ नवम्बर, ५३, 'मालव लोक-गीतों मे नारी', (प्रभागचन्द्र शर्मा), 'हंस', सितम्बर, १९४०, 'बालाबऊ', 'नई धारा', अप्रैल, १९५३ ।

कथा-साहित्य: 'वाह रे पट्ठा भारी करी' (धारावाहिक उपन्यास), श्री निवास जोशी 'वीणा' मासिक, १९५१-५३ ।

विविध : 'विक्रम' मासिक मे प्रकाशित श्री चिन्तामणि उपाध्याय के लेख, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, 'वीणा' और 'मध्यभारत संदेश' (ग्वालियर) एवं इन्दौर के दैनिकों के विशेषांको की सामग्री ।

अंग्रेजी में प्रकाशित सामग्री

G. R. Pradhan, 'Folk Songs from Malwa', the Journal of the department of Sociology, Bombay; Vol VII and XI.

Shyam Parmar; 'Garba Festival in Malwa & Gujrat', Bharat Jyoti, Bombay; Nov. 23, 1947.

" ; 'Basant Puja in Malwa', B J. Jan. 1947.

" ; 'Peasant Folk Songs', B. J. Dec. 5, 1948.

" ; 'Folk Songs of Savan in Malwa'; Amrit Bazar Patrika (Allahabad), Oct., 1950.

" ; 'Sauja Puja'; The Hindusthan Standard, Delhi; Dec. 7, 1952.

Lekoda Survey Report by Pratibha Niketan, Ujjain.

●